गुरुप्रिया देवी

अखण्ड महायज्ञ

श्रीश्री आनन्दमयी चेरिटेबल सोसाइटी

अखण्ड महायज्ञ

गुरुप्रिया देवी

श्री श्री आनन्दमयी चेरिटेबल सोसायटी
कलकत्ता

प्रकाशक :
श्री श्री आनन्दमयी
चेरिटेबल सोसायटी, ३१ एजरा मेन्सन
१० गवर्मेण्ट प्लेस, कलकत्ता–६९

अक्टूबर, १९८१

मूल्य : Rs 75.00

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

श्रीश्री माताजी

भूमिका

(१)

श्रीजगन्माता के आशीर्वाद से सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की कामना से आरंभ किये गये मङ्गलयज्ञ की पूर्णाहुति हो चुकी है। गायत्री-मंत्र की कोटि आहुतियों का संकल्प लेकर संवत् २००३ पौष संक्रान्ति के दिन जिस विराट् आयोजन का सूत्रपात हुआ था उस महान् उत्सव की, संकल्प की पूर्णता के साथ साथ, संवत् २००६ पौष संक्रान्ति के दिन पूर्ति हुई। किन्तु वास्तव में २००३ की पौष संक्रान्ति इस यज्ञ की आदि तिथि नहीं है एवं २००६ की पौष संक्रान्ति इसका अन्त दिन भी नहीं है; क्योंकि जिस महाग्नि से यह अनुष्ठान सम्पन्न हुआ है वह यज्ञारम्भ के बहुत पहले से प्रज्वलित थी एवं यज्ञसमाप्ति के बाद भी वैसे ही प्रज्वलित है। उक्त अखण्ड अग्नि द्वारा अनुष्ठित अखण्ड महायज्ञ विश्व का कल्याण करेगा।

पुराण आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अतीत काल में भारतवर्ष में अतीन्द्रियदर्शी ऋषि मुनि लोग नाना प्रकार के यज्ञ यागानुष्ठानों में व्यस्त रहते थे। राज्य सिंहासनारूढ क्षत्रिय भी अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करते थे। उस समय साधारणतः सभी लोग यज्ञ को लौकिक और अलौकिक सभी प्रकार की फल-प्राप्ति का प्रधान उपाय समझते थे। इसलिए उस समय हमारे देश में यज्ञ की महिमा के सम्बन्ध में सभी को गाढ़ श्रद्धा थी।[1]

किन्तु समय के फेर से यज्ञ का तात्पर्य और रहस्य वर्तमान समय में अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है। एक समय जिसका प्रत्यक्ष और परीक्षित सत्य के रूपमें सर्वत्र आदर था आज वह सम्यक् ज्ञान और विधिपूर्वक अनुष्ठान के अभाव से एक निरर्थक आचार के रूप में बदल गया है। यथार्थ बात तो यह है कि जो लोग सदाचारसम्पन्न एवं प्राचीन परम्परा के पक्षपाती होने से श्रद्धालु

---

१. गीता में (४।३१) कहा है—यज्ञहीन का यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। ब्राह्मण लोग ब्रह्म-प्राप्ति की अभिलाषा से जिन जिन उपायों का अवलम्बन करते थे उनमें स्वाध्याय, दान और तपस्या के साथ यज्ञ का भी उल्लेख है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।" छान्दोग्योपनिषत् में जिन धर्मस्कन्धों का उपदेश है उनमें यज्ञ का विशिष्ट स्थान है।

हैं वे भी यज्ञ के तत्त्व और प्रयोग के विषय में उत्तम जानकारी नहीं रखते। इसीलिए आज यज्ञ का विज्ञान साधारण जनता की बुद्धि का अगम्य हो पड़ा है एवं यज्ञ के प्रति अधिकांश स्थलों में अनादर और उपेक्षाभाव दिखाई दे रहा है।

यज्ञ किसे कहते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी फलवता की भीत कहाँ पर है—इन सब प्रश्नों का विचारशील व्यक्ति के मन में उठना स्वाभाविक है। इनका समाधान भी शास्त्र से हो जाता है। कात्यायन मुनि ने स्वरचित श्रौतसूत्र में (१-२-२) देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग को यज्ञ कहा है[1]। यह जगत् अनन्त विचित्रताओं से परिपूर्ण है। जो सब सूक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ इसका संचालन करती हैं ऋषियों की परिभाषा में उनका नाम देवता है—'देवाधीनं जगत् सर्वम्।' देवता साकार हैं या निराकार इसका निर्णय[2] इस प्रसंग में अनावश्यक है। फिर भी यह सत्य है कि देवता शक्तिरूप होने से एक ओर स्वाभावतः निराकार होने पर भी नित्य साकार और दूसरी ओर संकल्प वश और प्रयोजन के अनुसार प्राकृत आकारसम्पन्न रूप से भी प्रतीत होते हैं। शक्ति जैसे मूल में एक होने पर भी उपाधि के भेद से नाना प्रकार की है एवं गुणों के वैषम्य के कारण हुआ यह नानात्व भी विचित्र हैं वैसे ही यद्यपि देवता एक ओर अभिन्न हैं तथापि बाह्य दृष्टि से उसके अवान्तर भेद असंख्य हैं। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति[3]' यह श्रुति का ही (ऋग्वेद सं० १।१६४।४६)

---

१. भामती में वाचस्पति मिश्र ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए कहा है—"देवतामुद्दिश्य हविरवमृश्य च तद्विषयसत्त्वत्याग इति यागशरीरम्।"

२. याज्ञिक लोग और वेदान्त-दर्शन देवता का विग्रहवत्त्व (साकारता) स्वीकार करते हैं। इसकी, पोषक युक्तियाँ वेदान्त-दर्शन के देवताधिकरण में शाङ्करभाष्य तथा भामती आदि में दी हुई है। (ब्रह्मसूत्र १।३।२६-३३)। मीमांसक लोग देवता का मन्त्ररूप से वर्णन करते हैं। इस मत-भेद में वास्तविक कोई विरोध नहीं है। यास्क ने देवता के आकार-विचार के अवसर पर देवता पुरुषविध (साकार) और अपुरुषविध (निराकार) है इन दो पक्षों का समाश्रय कर देवता उभयविध है यों स्वयं सिद्धान्त किया है। (निरुक्त ७।६।१-२; ७।७।१७)।

३. निरुक्त मत में स्थानानुसार मुख्य देवता तीन हैं—पृथिवी या भूलोक का देवता अग्नि आन्तरिक्ष या भुवलोक का देवता वायु एवं द्युलोक का देवता सूर्य। अन्य सब देवता इन्हीं के अन्तर्गत हैं। किन्तु निरुक्त में ही परम सत्य का शोध भी दिया गया है, एवं बृहद्देवता में इसी का समर्थन है। इस मत में मुख्य देवता

निर्देश हैं। इश सब भेदों के पारमार्थिक दृष्टि मे न रहने पर भी व्यवहार दृष्टि मे न रहने पर भी व्यवहार दृष्टि में ये असत्य नहीं हैं।

देवता के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करने का शास्त्रीय विधान है। उक्त द्रव्यार्पण एक दृष्टि से देखने पर देवता के लिए हवि आदि भक्ष्य प्रदान करने के सिवा और कुछ नहीं है। शक्ति व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो ही प्रकार की है। अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। कार्य साधन के लिए शक्ति को उद्बुद्ध कर प्रयोग करना पड़ता है। जिस शक्ति से जो कार्य सम्पन्न होता है वह शक्ति जाग्रत् होने पर एवं समुचित रूप से उसका विनियोग होने पर स्वाभाविक नियम से उस कार्य को अवश्य ही करती है। उसके लिए कोई बाहरी नियन्त्रण आवश्यक नहीं है। कार्य करने पर शक्ति का अपचय अवश्य होता है। इसलिए यदि शक्ति को अक्षुण्ण रखना हो तो उक्त अपचय की पूर्ति के लिए अर्थात् शक्ति की पुष्टि के लिए उसमें भक्ष्य का समर्पण आवश्यक है। जिसके प्राप्त होने पर शक्ति पुष्ट होकर अपना संरक्षण करने में समर्थ हो वही शक्ति का आहार है। शक्तियों के नाना होने पर भी जैसे उनका मूल एक ही है वैसे ही शक्ति का आहार स्थूल रूप से विभिन्न होने पर भी मूल में एक और अभिन्न है। सुप्त शक्ति निष्क्रिय होती है, इसलिए उसे आहार की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु उसके द्वारा कार्य भी सिद्ध नहीं होता। यदि कार्य साधन करना हो तो शक्ति को जगाकर और उसे उसके अनुरूप आहार देकर समर्थ करना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो वह कार्यक्षम नहीं हो सकती। इसी का नाम देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग है।

शतपथब्राह्मण में यज्ञ पञ्चाङ्गसम्पन्न कहा गया है। पुराणों में इन पाँच अङ्गों का उल्लेख है—जैसे देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा:—

(१) देवता। एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ ही देवता है। दृष्टिभेद से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जैसे आजानज देवता, कर्म देवता और आजान देवता। आजानज देवता और कर्म देवता कर्मफल के भोक्ता हैं। वे दिव्य लोक में रहकर कृत कर्म का फल भोग करते हैं, किन्तु आजान देवता ऐसे नहीं हैं। वे सब देवता सृष्टि के आदि काल से उद्भूत हुए हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, इन्द्र आदि इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं। वे स्तुति और

एक हैं और अनन्त नाना रूप उसी की केवल स्तुति है। भिन्न देवता भी एक ही आत्मा के भिन्न अङ्ग हैं। ऋषियों ने एक ही प्रकृति की नाना रूपों में स्तुति की है। एक अग्नि की जैसे बहुत चिनगारियाँ होती हैं वैसे ही आत्मा की विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ होती हैं।

आहुति से सन्तुष्ट होते हैं एवं कर्मफल प्रदान करते हैं। वे दिव्य, साकार और ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। यदि साधक में साधना की योग्यता हो तो उनका प्रत्यक्ष भी हो सकता है। संस्कार, ब्रह्मचर्य धारण, स्वाध्याय, श्रौत और स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान, योगाभ्यास आदि विविध उपायों से देवताओं का दर्शन प्राप्त होता है। अणिमा आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न योगी जैसे एक ही समय में नाना शरीर धारण करने में समर्थ होता है वैसे ही आजानसिद्ध देवता भी उस तरह की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। इसीलिए शङ्कराचार्य ने कहा है—"एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गच्छतीति परैश्च न दृश्यते अन्तर्धानादिक्रियायोगात्।" (ब्र० सू० शारीरकभाष्य १।३।२७)

(२) हविर्यज्ञ ! वह आजान देवताओं का उपजीव्य (जीवनाधार) यज्ञ में दिया जानेवाला आहुति-द्रव्य है। एक बार हविर्द्रव्य का जितना अंश देवतादि के अर्पण किया जाता है उसे आहुति कहते हैं। आहुति शब्द का प्राचीन अर्थ आह्वान या आहूति है (ऐतरेय ब्राह्मण में इसी प्रकार का निर्देश है)। आहुति द्वारा यजमान देवता का आह्वान करते हैं या बुलाते हैं। आहुति फल-प्राप्ति का मार्ग है। यदि केवल एक ही हवि का विधि के साथ समर्पण किया जाय तो देवता उसी की बहुत समझ कर सन्तुष्ट होते हैं। अग्नि में हवि अर्पण करना वस्तुतः देवता के मुख में ही अर्पण करना है। हवि अग्नि में प्रविष्ट होकर अमृत रूप में परिणत होता है। यही याज्ञिक लोगों का सिद्धान्त है।

(३) मन्त्र। शक्तिसम्पन्न शब्दराशि मन्त्र है जिसके प्रभाव से हवि देवता के समीप भोग्य रूप से पहुँचता है।

(४) ऋत्विक्। जिस विद्वान् ब्राह्मण को यज्ञ करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है उसका नाम ऋत्विक् है।

(५) दक्षिणा। यज्ञ के अन्त में ब्राह्मणों को उनके परिश्रमिक रूप में जो दिया जाता है उसी द्रव्य का नाम दक्षिणा है। कर्म करा कर यदि दक्षिणा न दी जाय तो कर्म पूर्णरूप से फल उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रश्न उठ सकता है, द्रव्य त्याग करने का भार किसके ऊपर है? उसके उत्तर में निम्नलिखित वक्तव्य पर्याप्त होगा—त्यागरूप कर्म के फल की जो आकांक्षा करता है उसी के ऊपर उसका भार है अथवा फल की आकाङ्क्षा न करके भी कर्तव्य बुद्धि से जो त्याग करता है उसके ऊपर है। कर्म सकाम और निष्काम रूप दो प्रकार के हैं, इसलिए यज्ञ भी सकाम और निष्काम भेद से दो ही प्रकार का है। स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष जैसे यज्ञ करके उसके फलस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त होता है वैसे ही अन्य किसी फल की कामना से कर्म करने

पर भी कामनापूर्वक कर्म करनेवाले को ही उस फल की प्राप्ति होती है। यहाँ पर कामना से व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की अभिलाषा समझनी चाहिये। यद्यपि निष्काम कर्म में इस तरह की व्यक्तिगत फलाकाङ्क्षा नहीं रहती तथापि स्वयं निष्काम भाव से कर्म करने पर भी इस कर्म का फल मुझे न होकर औरों को ही इस प्रकार की आकाङ्क्षा रहती ही है। जगत् का कल्याण, सब लोगों का हित और सुख, यह भी कर्मफल है।

इस फल की आकाङ्क्षा निष्काम करनेवाले को भी हो सकती है। ऐसी कामना रहने पर भी परार्थ कामना होने के कारण वह कलुषित नहीं है। विष्णु-कामना तथा मोक्ष-कामना जैसे कामना रूप से प्रतीत होने पर भी वस्तुतः कामना नहीं है वैसे ही औरों की मङ्गल-कामना से कर्म का निष्कामत्व विनष्ट नहीं होता। साक्षात् परहित की आकाङ्क्षा न कर केवल कर्तव्य बुद्धि से अर्थात् शास्त्रीय विधि के अनुशासन से अथवा भगवत्प्रेरणा से भी कर्म का अनुष्ठान हो सकता है। वह निष्काम कर्म का उच्चतम आदर्श है। किन्तु फलाकाङ्क्षा न करने पर भी कर्म यदि किया जाय तो समय पर अवश्य फल उत्पन्न करेगा ही। वह फल व्यक्तिगत रूप से कर्मकर्त्ता द्वारा ईप्सित न होने के कारण व्यापक रूप से सारे विश्व में विकीर्ण हो जाता है। यह दो प्रकार का निष्काम कर्म ही यज्ञ का उत्कृष्ट स्वरूप है। इस तरह के कर्म से बन्धन तो होता नहीं, बल्कि जो बन्धन पहले से रहता है वह भी शिथिल हो जाता है। इसलिए गीता में कहा है—"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (३-९), अथवा "यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते" (४-२३)

देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्यागरूप यज्ञ के और दिये जा रहे द्रव्य के अग्नि में प्रक्षेपरूप होम के अनेक अवयव हैं। जो त्याग करता है, जिसके द्वारा करता है, जिसके उद्देश्य से त्याग करता है एवं जिसमें त्याग करता है—ये सभी त्याग (और होम) क्रिया के पृथक् पृथक् अवयव हैं। यदि अमूर्त क्रिया को मूर्त होना हो तो इन सब अवयवों में से प्रत्येक की कार्यकारिता यथासंभव आवश्यक होती है। जो त्याग करता है और जो अग्नि में प्रक्षेप करता है वह कर्ता अर्थात् यजमान और उसका प्रतिनिधि उससे क्रीत अध्वर्यु है[1]। जिसका त्याग करते हैं वह कर्म है। वह देवता की भोग्यवस्तु या हवि आदि है। जिसके द्वारा त्याग अर्थात् अग्नि में प्रक्षेप करते हैं वह करण है। वह दो तरह का है—हवि के प्रक्षेप में धारक रूप से साधकतम करण जुहू आदि हैं एवं प्रकाश रूप से साधकतम करण

---

१. हवि-त्याग और अग्नि में प्रक्षेप इन दोनों क्रियाओं में से पहिले का कर्ता यजमान और दूसरी का कर्ता अध्वर्यु है।

मन्त्र आदि हैं। इस प्रकार करण दो प्रकार के हैं। जिसके उद्देश्य से, जिसकी प्रीति या तृप्ति के लिए, त्याग क्रिया निष्पन्न होती है वह सम्प्रदान अर्थात् देवता है। जिसमें अर्थात् जिसको आधार बनाकर हवि आदि का समर्पण किया जाता है वह अधिकरण अर्थात् अग्नि है। देश, काल आदि भी इसी प्रकार अधिकरण श्रेणी में परिगणित होते हैं।

सकाम और निष्काम भेद से कर्म भिन्न है, इसलिए यज्ञ का स्वरूप भी भिन्न है। सकाम कर्म भी कामनाओं के नानात्व से नाना प्रकार का है। तेल चाहनेवाला और मक्खन चाहनेवाला—ये दोनों यद्यपि सकाम हैं तथापि दोनों के कर्म एक से नहीं कहे जा सकते। तेल की चाहवाले को तेल की प्राप्ति के लिए सरसों आदि पीसने चाहिये किन्तु मक्खन की चाहनेवाले को उसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। उसके लिए आवश्यक है दूध या दही मथना। पुत्रेष्टि और कारीरी एक फल के साधक नहीं है।

नित्य कर्म में व्यक्तिगत फलानुसन्धान न रहने पर भी आनुषङ्गिक रूप से फल का उदय होता ही है, इसलिए स्वाभाविक नियम के अनुसरण का नियम है। निषिद्ध कर्म से केवल चित्त की ऊर्ध्वगति ही बन्द होती है सो बात नहीं है, किन्तु निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से अधोगति होती है—परिणाम में दुःख का उदय होता है। फलानुसन्धान न रहने के कारण काम्य कर्म द्वारा भी चित्त मलिन होता है। काम्य कर्म से (दुःखमिश्रित) अनित्य सुख का उदय होने पर चित्त शुद्धि का व्याघात होता है[1] और आत्मज्ञान का मार्ग कुछ समय के लिए रुक जाता है। इसलिए शास्त्र ने कहा है—"नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवाय-जिहासया। मोक्षार्थी न प्रयतेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ॥" इसी कारण बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में कहा है कि अग्न्याधान आदि नित्य कर्म क्षेमसाधन हैं। वैध भोग भी भोग ही है। निषिद्ध भोगके समान उससे पतन न होने पर भी साक्षात् रूप से उससे कोई सहायता नहीं मिलती। निषिद्ध भोग से भोगवासना क्रमशः बढ़ती है। वैध भोग से भोगवासना क्रमशः शान्त हो जाती है। इसलिए शास्त्र में बहिर्मुख चित्तवाले के लिए उसका विधान है। किन्तु जिसका चित्त बाहर

---

१. काम्य कर्म से चित्त शुद्धि नहीं होती सो बात नहीं है। चित्त शुद्धि अवश्य होती है, पर वह भोग की उपयोगिनी होती है ज्ञान की उपयोगिनी नहीं, आचार्य सुरेश्वर ने अपने वार्तिक में कहा हैं—

"काम्येऽपि चित्तशुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा।" इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—"यद्यपि काम्यान्यपि शुद्धिमादधति धर्मस्वाभाव्यात् तथापि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी" (गी० १८।६)।

घूमते घूमते श्रान्त हो चुका हो और विषयभोग के दोषों को देखता हुआ वैराग्य युक्त हो गया हो उसके लिए साधारण वैध कर्मों की आवश्यकता नहीं हैं।

(२)

यज्ञ की चर्चा छेड़ने पर वैदिक युग की कर्ममय जीवन-धारा का एक सुमधुर चित्र हृत्पटल पर अङ्कित हो उठता है। इसलिए पहले वैदिक क्रिया-कलाप का थोड़ा परिचय देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वैदिक युग में आर्यजाति के सामाजिक जीवन में अग्नि देवता का स्थान बहुत ऊँचा था। उस समय तीनों वर्ण और तीनों आश्रमों में किसी न किसी रूप में अग्नि परिचर्या और अग्नि उपासना प्रचलित थी। ब्रह्मचर्य अवस्था में ब्रह्मचारी को सायंकाल और प्रातः काल शुद्ध स्थान से अग्नि लाकर पञ्चभूसंस्कार की प्रक्रिया से भूमिसंस्कार कर उस अग्नि में समिधाओं का आधान करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य जीवन में अन्त तक अर्थात् समावर्तन काल तक इस नियम का पालन करना पड़ता था। विवाह के बाद चतुर्थी कर्म के अन्त में[1] शुभ दिन में आधान कर स्मार्ताग्नि ग्रहण करनी पड़ती थी। सहोदर भाई के न रहने पर यही नियम प्रचलित था। सहोदर भाई के रहने पर पिता की मृत्यु के अनन्तर धन बाँटते समय अग्नि-ग्रहण आवश्यक होता था। वैवाहिक अग्नि का ग्रहण किये बिना कोई गृहस्थ नहीं बन सकता था। कारण चाहे जो कुछ भी हो यदि कोई अग्नि ग्रहण न कर सकता था तो उसका अन्न, अपवित्र होने के कारण, लोग ग्रहण करना नहीं चाहते थे। उसकी 'वृथापाक' कहकर लोग निन्दा करते थे। किसी अनिवार्य कारण से आधान के समय आधान न कर सकने पर प्रायश्चित कर पीछे आधान करना पड़ता था। ब्राह्मण के लिए तो यह नियम अवश्य पालनीय था। अग्नि का आधान न करने पर आत्मशुद्धि नहीं होती थी, अतएव परमेश्वर की उपासना अथवा योगकर्म में अधिकार उत्पन्न नहीं होता था। गृहस्थ-धर्म भार्या के साथ किया जाता है। इसीलिए आधान के समय भी भार्या का रहना आवश्यक था। गृहस्थ आश्रम में अग्निसेवा ही मुख्य उपासना मानी जाती थी। इस अग्नि का अन्य नाम गृह्य या आवसथ्य अग्नि अथवा पाकाग्नि है। इसी अग्नि में सभी स्मार्त कर्म करने पड़ते हैं। अन्नपाक (रसोई) भी इसी अग्नि में करने का विधान है। विशिष्ट लक्षणों से युक्त वैश्य कुल आदि से अथवा अरणि का मन्थन कर अग्नि का संग्रह करना पड़ता था।

---

१. चतुर्थीकर्म के बाद ही पत्नी में भार्यात्व सिद्ध होता है, इसलिए चतुर्थी-कर्म के अन्त में आधान का विधान है।

अरणिमन्थन की प्रणाली सर्वसाधारण को ज्ञात नहीं है, इसलिए यहाँ पर उसका विवरण दिया जा रहा है। शमीगर्भ (शमी के वृक्ष पर उगे हुए) पीपल के वृक्ष की पूर्वमुख या उत्तरमुख या ऊपर को फैली हुई शाखा को पीछे की ओर ताके बिना काटकर उसके काठ से अधरारणि और उत्तरारणि का निर्माण किया जाता है। शमीगर्भ पीपल वृक्ष के न मिलने पर साधारण पीपल की शाखा से भी उक्त कार्य किया जा सकता है। अरणि की लम्बाई २४ अंगुल, चौड़ाई ६ अंगुल और ऊँचाई ४ अंगुल होती है। अरणि की मनुष्य रूप में कल्पना करने पर शास्त्रानुसार उसके छः भाग होते हैं। उनमें पहला भाग ४ अंगुल—मस्तक, नेत्र, कान और मुख उसके अन्तर्गत हैं। दूसरा भाग ४ अंगुल—गर्दन, छाती और हृदय उसके अन्तर्गत हैं। तीसरा भाग छः अंगुल—पेट, कमर और वस्ती उसके अन्तर्गत हैं। चौथा भाग २ अंगुल—वही गुह्य स्थान है। उक्त भाग याज्ञिक लोगों में देवयोनि के नाम से परिचित है। पाँचवाँ भाग ४ अंगुल—दोनों जाँघें उसके अन्तर्गत हैं। छठे भाग में दोनों घुटने और पैर सन्निविष्ट हैं। उस भाग का प्रमाण ४ अंगुल है। चौथे भाग के अन्तर्गत दो अंगुल के योनिस्थान का मन्थन कर अग्नि को उद्दीप्त करना पड़ता है। उस स्थान से उद्भूत अग्नि कल्याणकारिणी होती है। यह स्थान का नियम प्रथम मन्थन के लिए ही है। उसके बाद के मन्थनों के समय स्थानविशेष की अर्थात् देवयोनि के विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। अग्निमन्थन कार्य में प्रमन्थ, चात्र, ओविली, नेत्र आदि उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है[1]। उस अग्नि की जीवन पर्यन्त जतन के साथ रक्षा करना गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है। इसका कुण्ड गोलाकार बनाना पड़ता है। यदि किसी को स्त्री के साथ वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना हो तो उसे इस अग्नि को साथ ले जाना पड़ता है। यदि स्त्री के साथ न जाकर एकाकी वनगमन करना हो तो जाने के पूर्व अग्नि का विसर्जन करना पड़ता है।

---

१. चात्र = जिस काष्ठ में रस्सी लपेट कर मन्थन किया जाता है उसका नाम चात्र है। उसका परिमाण १२ अंगुल है। ओविली = चात्र के ऊपर चात्र को रोकने के लिए जो छेदवाला काष्ठ लगाया जाता है उसका नाम ओविली है। उसकी भी माप १२ अंगुल है। नेत्र = मन्थन रज्जु। वह सन अथवा गोवाल से बनाई जाती है। प्रमन्थ = अग्निमन्थन के लिए चात्र के अधोभाग में उत्तर अरणि काष्ठ से अलग जो आठ अंगुल की कील लगाई जाती है उसका नाम प्रमन्थ है। अधोभाग में प्रमन्थ से जड़े हुए चात्र के ऊपर ओविली रखकर चात्र को नीचे अरणि के देवयोनि स्थान में रखकर नेत्र द्वारा तीन बार लपेट कर प्रमन्थन करना पड़ता है। मन्थन कालमें अरणि को केवल भूमि में न रखकर संस्कृत भूमि या कृष्णसार मृग के चर्म के ऊपर रखने का नियम है।

उस अग्नि में औपासन होम आदि आत्मसंस्कारकारी सभी पाकयज्ञों को करने का नियम है। उस अग्नि को अपने स्थान से उठाकर बाहर ले जाने का शास्त्र का आदेश नहीं है। यदि पुत्र आदि के उपनयनादि संस्कार अथवा शान्ति, पौष्टिक आदि कर्म बाह्यशाला में करने हों तो उन्हें लौकिक अग्नि में ही करना उचित है।

औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवण, शूलगव—ये सब कर्म पाकयज्ञ के अन्तर्गत हैं। औपासन होम सायंकाल और प्रातःकाल किया जाता है। स्थूल दृष्टि से सायंकाल और प्रातःकाल के ये दो होम पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में दोनों के मिलने पर एक ही कर्म सिद्ध होता है; कारण यह है के दोनों के संयोग से एक ही फल की उत्पत्ति होती है। इसलिए इन दो में से किसी एक का अनुष्ठान कर दूसरे का त्याग करने पर फल की उत्पत्ति नहीं होती। सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक इस कर्म का विस्तार है। दही में सने हुए चावल अथवा अक्षतों द्वारा हाथ से होम करने का विधान है। सायंकाल के प्रधान देवता अग्नि हैं और अङ्गदेवता प्रजापति हैं। प्रातःकाल के प्रधान देवता सूर्य हैं और अङ्गदेवता अग्नि हैं। यह कर्म जीवनपर्यन्त सपत्नीक को करना चाहिये। न करने पर प्रत्यवाय होता है।

पक्षादि कर्म। 'पक्षादि' कहने से यद्यपि प्रतिपदा का बोध होता है तथापि 'सन्धिमभितो यजेत्' अर्थात् सन्धि से पहले और बाद में यज्ञ करना चाहिये। इस नियम के अनुसार विशेषज्ञ लोगों ने पर्व के (अमावास्या-पूर्णिमा के) चतुर्थांश और प्रतिपदा के प्रथम तीन अंशों को यज्ञकाल माना है। इसीलिए अमावास्या और पूर्णिमा के चतुर्थांश को भी यागकाल जानना चाहिये।

वैश्वदेव कर्म। यह देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ नाम के पाँच महायज्ञों का पर्याय है। इन पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान गृहस्थ के प्रतिदिन के अवश्य कर्तव्य कर्मों के अन्तर्गत है। इसके प्रभाव से गृहस्थ जीवन में होनेवाली पाँच प्रकार की अवश्यम्भाविनी हिंसाओं से उत्पन्न पाप धुल जाते हैं। चूल्हा, सिल-वट्टा आदि पाँच गृहस्थ के सूना या हिंसाकारक स्थान हैं। गार्हस्थ्य जीवन के साथ लगे हुए उक्त पाप से मुक्ति पाने के लिए पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था है। पञ्च महायज्ञ वास्तव में समस्त विश्व के प्राणियों की सेवारूप हैं। ऊपर के देवलोक, ऋषिलोक और पितृलोक, मध्य में मनुष्यलोक और नीचे अन्य प्राणी या तिर्यग् योनि जीवलोक—इस प्रकार पाँच श्रेणियों में जगत् के सकल प्राणी सन्निविष्ट हैं[1]। देवताओं के निमित्त नित्यहोम देवताओं को तृप्त करता

१. समस्त विश्व के समस्त प्राणियों का स्मरण कर यथाशक्ति अन्नादि द्वारा उनकी तृप्ति या सेवा करने का भाव पञ्चमहायज्ञों का प्राण है। पारस्कर

है। यही देवयज्ञ है। मनुष्येतर जीवों के लिए जो बलिदान या आहार-प्रदान है वही भूतयज्ञ है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, पिपीलिका आदि एवं पृथ्वी, वायु और जल के देवता, औषधि, वनस्पति के अभिमानी जीव, मन्यु देवता, आकाशस्थ कामदेवता आदि इस भूतयज्ञ से आप्यायित होते हैं। पितृपुरुषों की तृप्ति के लिए नित्य ही उनके उद्देश्य से जो बलिदान किया जाता है वही 'पितृयज्ञ' कहलाता है। और कुछ न दे सकने पर "पितृभ्यः स्वधा" कहकर अन्ततः जलपात्र देने की व्यवस्था है (द्रष्टव्य बौधायन)। नित्य अतिथिसेवा और ब्राह्मण के लिए अन्न या फलमूल का दान मनुष्ययज्ञ है। आपस्तम्ब के मत में प्रतिदिन मनुष्य के लिए यथाशक्ति दान देना भी मनुष्ययज्ञ के अन्तर्गत है। नित्य स्वाध्याय या वेदपाठ अधिक नहीं तो प्रत्येक वेद के प्रथम मन्त्र का पाठ, वह भी न हो सके तो प्रवण का जप ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ के नाम से परिचित है। इस वेदपाठ में किसी दिन किसी कारण से अनध्याय नहीं हो सकता। प्राचीनकाल में यह वेदपाठ 'ब्रह्मसत्र' कहा जाता था।

पार्वण। यह छः पुरुषों के उद्देश्य से प्रति अमावास्या को किया जानेवाला नित्य कर्म है।

अष्टका श्राद्ध। हेमन्त और शिशिर इन दो ऋतुओं के चार महीनों में प्रत्येक कृष्णाष्टमी के दिन यह किया जाता है। यह अवश्य कर्तव्य होने पर भी किसी-किसी शाखा में विशेष कारणों से विलुप्त हो गया।

मासिक श्राद्ध। यह प्रतिमास करणीय है।

श्रवण कर्म। श्रावण मास की पूर्णिमा से अगहन मास तक प्रतिदिन सन्ध्या समय सर्पों के लिए घृत मिश्रित सत्तू का बलिदान करना पड़ता है। उसका नाम श्रवणा कर्म है।

शूलगव। इस कर्म के देवता ईशान हैं और द्रव्य गौ है। कलियुग में वह निषिद्ध है। उसके बदले में किसी-किसी शाखा में स्थालीपाक की व्यवस्था है।

गृह्यसूत्र के भाष्यकार हरिहर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित दो पद्यों में यह भाव सुन्दर ढङ्ग से प्रकाशित हुआ है—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदेवसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाकीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥

अनुवाद अनावश्यक है। इसमें देवता से लेकर पिपीलिका और वृक्ष तक के जीवों का नाम निर्देश किया गया है।

ऊपर जिन सब कर्मों के नाम कहे गये हैं वे सब गृह्य कर्म हैं और गृह्य अग्नि से किये जाते हैं।

श्रौत कर्म गृह्य कर्म से सर्वथा भिन्न हैं एवं वे सब कर्म गृह्य अग्नि से किये भी नहीं जा सकते। उनके लिए श्रौत अग्नि का आधान आवश्यक होता है। श्रौत अग्नि तीन प्रकार की है। आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। एक ही दिन तीन अग्नियों की स्थापना होती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न आकार का होता है। आहवनीय का कुण्ड चौकोर, गार्हपत्य का गोलाकार और दक्षिणाग्नि का अर्द्धचन्द्राकार। गार्हपत्य अग्नि साधारणतः हवि के पाक के लिए व्यवहार में लाई जाती है। पत्नी संयाजादि याग भी उसमें किये जाते हैं। दक्षिणाग्नि से साधारणतः पितृकर्म करने की व्यवस्था है। आहवनीय ही मुख्य यज्ञाग्नि है। मुख्य श्रौत (गार्हपत्य) अग्नि की स्मार्त अग्नि की तरह जन्मभर रक्षा करनी पड़ती है। यदि किसी कारण से बीच में अग्नि का विच्छेद हो जाय तो पुनः विधिपूर्वक आधान कर उसे सुलगा लेना चाहिये। पिता के जीवित रहते अग्निहोत्री होने पर ही पुत्र का आधान में अधिकार होता है। पिता के पश्चात् तो पुत्र का अधिकार स्वतः सिद्ध है। श्रौत कर्म में तीनों अग्नियों की आवश्यकता होती है। किन्तु स्मार्त कर्म में एकमात्र गृह्याग्नि आवश्यक है। सभ्याग्नि इन चार अग्नियों से पृथक् पाँचवीं अग्नि है। उसका श्रौतसूत्र में ही विधान है। वह सभामण्डप में स्थापित कर रखनी पड़ती है। इसीलिए उसका नाम सभ्य अग्नि है। प्रत्येक अग्नि का स्थान पृथक्-पृथक् है।

श्रौत कर्म हविःसंस्था और सोमसंस्था के भेद से दो प्रकार के हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और दर्वीहोम (पिण्ड पितृयज्ञ आदि) पहले के अन्तर्गत हैं। यदि दर्श और पूर्णमास की पृथक् यज्ञ रूप से गणना न की जाय तो सौत्रामणी को संस्था के अन्तर्गत समझना चाहिये। द्वितीय संस्था के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम हैं।

आधानसिद्ध वैतानिक अग्नियों में अग्निहोत्रादि कर्म किये जाते हैं। अग्निहोत्र इस प्रकार के एक होम का नाम है जो अग्नि के उद्देश्य से सायंकाल और प्रातःकाल किया जाता है। उस में गोदुग्ध, यवागू, तण्डुल, दही, घी आदि विविध वस्तुओं का विधान है। सायंकाल में अग्नि मुख्य देवता है, किन्तु प्रातःकाल में सूर्य मुख्य देवता है। यह श्रौत कर्म ही वास्तविक अग्निहोत्र है। बहुत से लोग स्मार्त औपासन होम को अग्निहोत्र समझते हैं। यह ठीक नहीं है। अग्निहोत्र अति प्रशस्त और अवश्य करणीय कर्म है। न करने पर प्रत्यवाय लगता है। परम संकटकाल में भी उसका परित्याग नहीं किया जाता। दर्शपूर्ण-

मासादि यदि न किये जायँ तो भी कोई हानि नहीं, किन्तु अग्निहोत्र अवश्य ही करना चाहिये। यदि हो सके तो यजमान को स्वयं ही उसका अनुष्ठान करना चाहिये। असमर्थ होने पर ऋत्विक् द्वारा प्रतिनिधि रूप में कराने की व्यवस्था है।

दर्शपूर्णमास। यह अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता है। आधान के पश्चात् यदि अमावास्या पड़ जाय तो भी उसमें इष्टि न कर आनेवाली पूर्णिमा से ही इष्टि का आरम्भ करना चाहिये। दर्शेष्टि उसके बाद होती है। इसमें सपत्नीक यजमान और चार ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है जैसे अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता और अग्नीध्र। दर्श पूर्णमास के छः याग सब इष्टियों की प्रकृति या आदर्श हैं, सब इष्टियाँ विकृति हैं। प्रकृति में आवश्यक सब अङ्गों का उपदेश रहता है, किन्तु विकृति में वह नहीं रहता। यह भी यावज्जीवन करना चाहिये। असमर्थ के लिए अन्ततः ३० वर्ष तक करना उचित है। इस यज्ञ में बहुत से पदार्थों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

चातुर्मास्य। इसके चार पर्व हैं—(१) बलिवैश्वदेव,—फाल्गुन की पूर्णिमा से, (२) वरुणाघास—आषाढकी पूर्णिमा से, (३) पाकमेध्य—कार्तिक की पूर्णिमा से एवं (४) शुनासीरीय—फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से अनुष्ठेय हैं। चातुर्मास्य जीवन भर करना पड़ता है। अन्यथा केवल एक बार कर के उसके बाद पशुयाग, सोमयाग आदि किये जाते हैं। जिसे यावज्जीवन करने की इच्छा हो उसको यह प्रतिवर्ष करना चाहिए। ऐष्टिक, पाशुक और सौमिक भेद से चातुर्मास्य तीन प्रकार का है। (इसका विस्तार कात्यायनश्रौतसूत्र के ५ वें अध्याय में देखना चाहिये)।

निरूढपशुबन्ध। यह प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में किया जाता है।

आग्रयणेष्टि या नवान्न इष्टि। नवीन अन्न उत्पन्न होने के बाद यह किया जाता है। आहिताग्नि (अर्थात् जिसने अग्नि का आधान किया हो) इस इष्टि द्वारा याग करके नवान्न ग्रहण करता है। जो आहिताग्नि नहीं है और औपासनिक है वह गृह्यसूत्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार इसका अनुष्ठान करता है।

सौत्रामणी। यह एक पशुयाग है। स्वतन्त्र और अङ्गभूत—यों दो प्रकार के पशुयागों का विवरण मिलता है। स्वतन्त्र याग में एकमात्र ब्राह्मण का अधिकार है। वह नित्य, काम्य और नैमित्तिक भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। इस याग में होम के लिए गोदुध के साथ सुरा का भी विधान है। पयोग्रह और सुराग्रह में से सुराग्रह का देवता सुत्रामा है। इसी कारण इस याग का नाम सौत्रामणी पड़ा है। कलियुग में सुरा निषिद्ध होने से निन्दित है। किसी किसी

आचार्य ने उसके बदले पयोग्रह की व्यवस्था की है। सौत्रामणी याग यदि फलाकांक्षा रहित होकर किया जाय तो नित्य कर्म के अन्तर्गत है और हविर्यज्ञका एक प्रकार से भेदमात्र है। वह यदि ऐश्वर्य ("ऋद्धि") की आकांक्षा से किया जाय तो काम्य रूप में परिणत होता है। सौत्रामणी में तीन या पाँच पशुओं की बलि का विधान है। आपस्तम्ब के मतानुसार तीन पशुवाली सौत्रामणी नित्या कहलाती है तथा पाँच पशु की सौत्रामणी को कोकिल सौत्रामणी कहते हैं। कात्यायन के मत में पाँच पशुवाली सौत्रामर्णा को नित्या कहते हैं। चरण सौत्रामणी नामक एक और याग है वह राजसूय के अन्तर्गत है।

सोमयाग। यहाँ पर सोमयाग के सम्बन्ध में संक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। इसका दूसरा नाम अग्निष्टोम है। प्राचीन काल में सोमलता से रस निकाल कर उससे होम किया जाता था। इसलिए इसका नाम 'सोमयाग' पड़ा। वर्तमान समय में उक्त लता अत्यन्त दुर्लभ है, अतः उसके बदले 'पूतिका' व्यवहार में लाई जाती है। यद्यपि यह याग एक ही दिन में सम्पन्न हो सकता है तथापि यदि अङ्गों के साथ इसका अनुष्ठान करना हो तो पाँच दिन लग जाते हैं। इस याग में १६ ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ये अध्वर्यु (यजुर्वेदीय), ब्रह्मा (अथर्ववेदीय), होता (ऋग्वेदीय) और उद्गाता (सामवेदीय) इन चार समूहों में विभक्त रहते हैं। प्रत्येक समूह में चार ऋत्विक् रहते हैं। ये चार समूह क्रमशः यजुर्वेद, अथर्ववेद, ऋग्वेद और सामवेद के प्रतिनिधिरूप होते हैं। सोमयाग में तीन ही वेदों का सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रथम इस याग में चार संस्थाएँ हैं—जैसे अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। इन चारों से और तीन संस्थाओं का उद्भव हैं—जैसे अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। स्मृति के मतानुसार ये चार संस्थाएँ ही नित्य हैं। पाँच दिनों में किस दिन कौन कर्म करना चाहिये, यह श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट है।

वाजपेय। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय का इसमें अधिकार है। सप्त संस्थाओं के अन्तर्गत वाजपेय मे वैश्य का भी अधिकार है। यह कर्म शरत्काल में किया जाता है। सौत्रामणी के समान वाजपेय में भी सुराहोम का विधान है। किन्तु वह कलिकाल में वर्जित है। याज्ञिक लोग सोमसुरा के स्थान में ताम्रपात्रस्थ गोदुग्ध के साथ सोमरस का व्यवहार करते हैं, क्योंकि गोदुग्ध यदि ताम्रपात्र में रखा जाय तो वह सुरातुल्य हो जाता है।

राजसूय। इसमें एकमात्र राज्यसिंहासनारूढ़ क्षत्रिय का ही अधिकार है। इष्टि, पशुयाग और सोमयाग ये तीनों ही इसमें समप्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं।

अश्वमेध। यह भी एक प्रकार का सोमयाग ही है। इसमें सवीनय पशु अश्व है, इसलिए इसका नाम अश्वमेध पड़ा है। अभिषिक्त चक्रवर्ती राजा इसका अधिकारी है। फाल्गुन मास में शुक्लाष्टमी या नवमी तिथि को इसका आरम्भ होता है। इसमें होताको पूर्व दिशा में उत्पन्न द्रव्य, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में उत्पन्न वस्तु, अध्वर्यु को पश्चिम दिशा की वस्तु और उद्गाता को उत्तर दिशा की वस्तु दक्षिण के रूप में दी जाती है। किन्तु भूमि, पुरुष और ब्राह्मण-सम्पत्ति दक्षिणा में नहीं दी जा सकती।

पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध आदि यागों का उल्लेख भी आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है। जो 'अतिष्ठा' या सब भूमियों का अतिक्रमण करनेवाली स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसके लिए पुरुषमेध यज्ञ का विधान है। यह ४० दिनों में पूर्ण होता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय इसके अधिकारी हैं। यज्ञ दक्षिणा—ब्राह्मण के लिए सर्वस्व; क्षत्रिय के लिए प्राय: अश्वमेध के तुल्य है। तो भी इतना विशेष है कि अश्वमेध में पुरुष को दक्षिणा के अनर्ह बतलाया है, किन्तु पुरुषमेध में पुरुष भी दक्षिणा हो सकता है। जो पुरुषमेध करते हैं वे साधारणत: आत्मा में अग्नि का समारोपण कर सूर्योपस्थानपूर्वक वन में चले जाते हैं, फिर घर लौट कर नहीं आते। ऐसा होने पर भी यदि घर लौटने की इच्छा करे तो अग्निका समारोपण आत्मा में न करके दो अरणियों में करना चाहिये, कारण कि आत्मा में अग्नि का समारोपण करने पर फिर गृहस्थ जीवन नहीं चल सकता। सर्वमेध यज्ञ सब कामनाओं के लिए विहित है। पितृमेध मृत पिता की मृत्यु के वर्ष का स्मरण न रहने पर किया जाता है।

दिनों के हिसाब से यज्ञों के और भी कुछ भेद हैं। जो सब याग एक दिन में पूर्ण होते हैं, उन्हें एकाह कहते हैं। जिन्हें सम्पन्न करने के लिए दो दिन से लेकर ग्यारह दिनों की अपेक्षा होती है उन्हें अहीन कहते। तेरह दिनों से लेकर हजार वर्षों तक चलनेवाले जो याग के अनुष्ठान हैं उनका साधारण नाम सत्र हैं। द्वादशाह यज्ञ अहीन और सत्र दोनों नामों से अभिहित होता है।

(३)

तान्त्रिक होम के स्वरूप की आलोचना करने पर प्रतीत होता हैं कि वैदिक याग में जिस प्रकार मन्त्रादिजन्य संस्कार द्वारा साधारण अग्नि को दिव्य अग्नि में परिणत किया जाता है एवं उस दिव्य अग्नि में आत्मसंस्कारसाधक और अन्यान्य यागादि कर्म किये जाते हैं ठीक वैसे ही तान्त्रिक होम की प्रक्रिया भी जाननी चाहिये। बाह्य अग्नि संस्कार आदि के प्रभाव से होमाग्नि और इष्टाग्नि में परिणत हो किस प्रकार ब्रह्माग्नि तक के स्वरूप में प्रकाशित होती है उसका

क्रम स्पष्टरूप से जाना जा सकता है। दो अरणि-ताष्ठोंकी परस्पर रगड़ से अग्नि को उत्पन्न कर अथवा अन्य शास्त्रीय उपायों से अग्नि का संग्रह कर वह विशेष प्रकार के पात्र में रखी जाती है। यद्यपि वह केवल बाह्य अग्नि ही है तथापि साधारण अग्नि से उत्कृष्ट है। उस अग्नि के साथ कुछ अशुद्ध क्रव्याद अग्नि मिली रहती है। उसको हटाकर निरीक्षण, प्रोक्षण, ताड़न, अवगुण्ठन और अमृतीकरण इन पाँच उपायों से बाह्य अग्नि का शोधन किया जाता है। उसके पश्चात् भावना द्वारा मूलाधार से सुषुम्ना मार्ग में गई हुई चैतन्यरूप अग्नि को तृतीय नेत्र से बाहर निकाल कर उसे शुद्ध बाह्याग्नि में मिलाकर उस संयुक्त अग्नि का शिववीर्यरूप से देवीगर्भरूप अग्निकुण्ड में निक्षेप किया जाता है। उस व्यापार को वागीश्वरीगर्भ में वागीश्वरीबीज के निषेक का अनुकल्प समझना चाहिये। उसके अनन्तर इन्धन द्वारा आच्छादन का उपस्थापन, उपासन और प्रज्वालन किया जाता है। साथ ही साथ भावना करनी पड़ती है कि यही वागीश्वरीगर्भ में अग्नि का धारण और पोषण है। यहाँ तक के कर्म के सिद्ध होने पर भावना द्वारा अग्निदेव के पुसवन, सीमन्तोन्नयन और जातकर्म संस्कार कर नामकरण किया जाता है। नामकरण संस्कार के पहले तक अग्नि को केवल 'होमाग्नि' समझना चाहिये। किन्तु नामकरण द्वारा होमाग्नि इष्टाग्नि का रूप धारण करती है। उपास्य देवता के नाम के अनुसार अग्नि का नामकरण होता है—जैसे ललिता के उपासक की अग्नि का नाम ललिताग्नि इत्यादि। तदन्तर भावना द्वारा ही अग्नि के नामकरण के पश्चात् होनेवाले विवाहपर्यन्त सब संस्कार किये जाते हैं। तदुपरान्त परिषेचन, परिस्तरण आदि कर्मों के अन्त में हवन से पहले हवन-द्रव्य के अनुसार अग्निदेव का ध्यान किया जाता है। यदि समिधों से होम करना हो तो अग्नि का दण्डायमान रूप में ध्यान करना चाहिये, किन्तु आज्य होम के समय अग्नि का दण्डायमान रूप में ध्यान न कर उपविष्ट रूप में ध्यान करना चाहिये। ध्यान के बाद अग्नि को मन ही मन अलंकारों से विभूषित कर स्रुवा द्वारा उनकी जिह्वाओं में आहुति दी जाती है। अग्नि की सात जिह्वाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक में आहुति देनी चाहिये अथवा प्रयोजन के अनुसार किसी एक ही जिह्वा में देनी चाहिये। एक एक जिह्वा एक एक दिशा में फैलती है। तदनुसार छः जिह्वाओं का प्रसार छः दिशाओं में रहता है। एक जिह्वा बीच में रहती है। ईशान, पूर्व और अग्निकोण में तीन और विपरीत दिशाओं में नैऋत, पश्चिम और वायुकोण में तीन। इन छः जिह्वाओं के नाम क्रमशः हिरण्या, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा और अतिरक्ता हैं।[1] उत्तर दक्षिण मे स्वतन्त्र रूप से कोई जिह्वा नहीं

---

१. संस्कार रत्नमाला में उद्धृत वचन में भी सात नाम दिखाई देते हैं, किन्तु वहाँ पर यह विशेष है कि हिरण्या के स्थान में सुवर्ण शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ

रहती। जो मध्य में है वही उत्तर दक्षिण तक विस्तृत है। उस मध्यजिह्वा का नाम है 'बहुरूपा'। उसमें आहुति देने से सब अर्थ सिद्ध होते हैं, ऐसा शास्त्रों में निर्देश है। उस जिह्वा में इष्ट स्वरूपा जगजननी का आवाहन कर पूजा के अन्त में अङ्गदेवी, नित्या, ओघत्रय (अर्थात् दिव्य, सिद्ध और मानव—ये तीन प्रकार के गुरु), आवरणदेवता और यज्ञेश्वरी—सबको निष्काम भाव से आहुति दी जाती है। प्रधान देवता की आहुति उसके अनन्तर विहित है। इस प्रकार आहुति देने के बाद महाव्याहृति होम की व्यस्त समस्त रूप से समाप्ति कर ब्रह्मार्पण आहुति से परब्रह्म में स्थिति प्राप्त की जाती है।

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि चिदग्नि कर्मकर्ता के नेत्र से निकलकर जब तक वाह्याग्नि से संयुक्त न हो तब तक वाह्याग्नि चाहे कितनी ही शुद्ध क्यों न हो होमाग्नि का कार्य नहीं कर सकती। अवश्य चिदग्नि संचार के पहले वाह्याग्नि को शुद्ध करना आवश्यक है। जैसे मूर्ति बनाकर उसमें यद्यपि प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है तथापि उस मूर्ति का ही अवलम्बन कर पूजा करनेवाले के पूजनादि सब व्यापार होते हैं, वैसे ही वाह्याग्नि में भी भीतर से चिदग्नि का संचार किये बिना याग क्रिया नहीं हो सकती। अवश्य, यह सब प्रक्रिया साधारण अवस्था में भावना द्वारा ही करनी पड़ती है, किन्तु भावना भी ठीक तरह करने के लिये उच्चाङ्ग का योग कर्म में अधिकार रहना आवश्यक है।

होमाग्नि चेतन या प्राणमय है। पहले शरीर रचना कर उसके पश्चात् उसका संस्कार कर उसमें चैतन्य का संचार करना चाहिये। उसके बाद चेतन अग्नि की दिव्य भाव में स्थिति होती है, जिसके कारण उस अग्नि में ही परा-

---

पर जिह्वाओं के सन्निवेश में भी थोड़ा अन्तर है। गृह्यसंग्रह में और मार्कण्डेय पुराण में अग्नि की सात जिह्वाओं के नाम इस प्रकार उल्लिखित हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधर्मवर्णा, स्फुलिंगिनी और शुचिस्मिता (गृ० सं०) या विश्वा (मार्कण्डेय पुराण)। पौराणिक मत से विश्वा प्राणियों की सर्वदा मङ्गलकारिण है। भविष्य पुराण में जो सब अग्नि जिह्वाओं के नाम हैं, उनमें से कितने ही प्रथम सात नामों से और कितने ही दूसरे सात नामों से अभिन्न है। गृह्य संग्रह में एक दूसरी नामावली पाई जाती है। वह इस प्रकार है—कराली, धूमिनी, श्वेता, लोहिता, महालोहिता, सुवर्णा और पद्मरागा। प्रथम छः का क्रमशः भोग करते राक्षस, असुर, नाग, पिशाच, गन्धर्व और यम। सातवीं या पद्मरागा दिव्य जिह्वा है। उसी में होम करना चाहिये।

"तस्यां तु होममेतित्यं सुसमिद्धे हुताशने"। पद्मरागा का नाम भविष्य-पुराणोक्त नामावली में भी है।

शक्ति की बाह्यस्फुरण रूप से प्रतीति होती है। उसके पश्चात् उसका ब्रह्माग्नि रूप से अनुभव कर ब्रह्मार्पण कार्य सम्पन्न करना चाहिये।

तान्त्रिक याग के प्रसङ्ग छः प्रकार के कुल यागों का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है। उन छः यागों में प्रथम बाह्यस्थण्डिल आदि के अवलम्बन से सिद्ध होता है एवं षष्ठ आत्मचैतन्य रूप संवित् का अवलम्बन करके किया जाता है। जड़ से चैतन्यरूप में क्रमविकास का मार्ग मध्यवर्ती चार यागों में स्पष्टतः दिखाई देता है। इन छः यागों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर याग श्रेष्ठ है। तदनुसार संवित् में जो याग निष्पन्न होता है वही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं है। उसकी भी एक उत्तर अवस्था है; उस समय गुरु-शरीर का आश्रय लेकर याग निष्पन्न होता है। उसका एक प्रकार से सप्तम याग के रूप में वर्णन करना उचित है। इन सब यागों का विस्तारपूर्वक निरूपण यहाँ पर अनावश्यक है।

(४)

यहाँ पर हम क्रमशः यज्ञ के अन्तरङ्ग भाव को समझने की चेष्टा करेंगे। गीता में (४।२५-३०) श्रीभगवान् ने बहुत से यज्ञों का प्रतिपादन किया है। किन्तु समन्वय दृष्टि से यदि देखा जाय तो उन सब यज्ञों में से सभी यज्ञों में एक ही आदर्श विद्यमान हैं, फिर भी लक्ष्य की अपेक्षाकृत स्पष्टता अथवा अस्पष्टता वश उनसें तारतम्य प्रतीत होता है। दूसरे प्रसङ्ग में भगवान् ने कहा है (गी० १०।२५) कि नाना प्रकार के यज्ञों में मैं 'जप यज्ञ' स्वरूप हूँ। शास्त्र में अन्यन्त्र भी दिखाई पड़ता है कि सम्पूर्ण कर्मकाण्ड, दान और तपस्या—ये सब मिलकर भी उपयज्ञ की सोलह कलाओं में से एक कला के समान भी नहीं हैं। जप, विशेषतः मानस जप, अति श्रेष्ठ साधन है, इसमें सन्देह नहीं है।

धर्मसूत्रकार बौधायन ने कहा है, "सर्व-क्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते।" अर्थात् सब प्रकार के यज्ञों से आत्मयाग ही श्रेष्ठ है।[1] मानस जप यदि भली भाँति किया जाय तो आत्मयाग में परिणत होता है। इसीलिए उसकी इतनी बड़ी महिमा है।

---

१. आधान के पश्चात् सब अग्नियाँ यजमान में स्थित होती हैं। उस समय गार्हपत्य अग्नि यजमान के प्राण रूप में रहती है, दक्षिणाग्नि अपान रूप में रहती है, आहवनीय ध्यान रूप में रहती है, सभ्य और आवसथ्य अग्नियों क्रमशः उदान और समान रूप में रहती है। ये पाँच अग्नियाँ आत्मस्थ—आत्मा में आहित रहती हैं। उस समय बाहर अन्य कोई अग्नि नहीं रहती। इसीलिए उस समय "आत्मन्येव जुहोति", आत्मा में ही हवन होता है। इसका नाम आत्मयाग—आत्मनिष्ठा और आत्मप्रतिष्ठा है (बौधायन पृ० २१०-२११)।

'यज्ञ' शब्द से कर्म का बोध होता है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु जिस किसी कर्म को यज्ञ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि काम्य कर्म भी यज्ञ नाम से परिचित है तथापि वह यज्ञ का वास्तविक आदर्श नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। जिस कर्म से शुद्धि—देहशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, अहङ्कारशुद्धि और चित्त-शुद्धि होती है, जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं पदार्थ है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता बल्कि पहले का आवरण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमशः कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता है और अन्त में महाज्ञान तक प्राप्त कराता है वही यज्ञ है। इसीलिए गीता में कहा है, यथार्थ से अतिरिक्त अन्य कर्मों से बन्धन होता है। वास्तव में निष्काम भाव से किया गया, फलाकाङ्क्षा रहित योगस्थ कर्म या स्वभावसिद्ध कर्म ही यज्ञ है। पहले ही कहा जा चुका है कि फलाकाङ्क्षा न रहने पर भी यदि कर्म विधिपूर्वक किया जाय तो वह स्वाभाविक नियम के अनुसार फल उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता एवं उक्त फल निष्काम कर्मकर्ता में स्थित न होकर सम्पूर्ण विश्व की साधारण सम्पत्ति के रूप में व्याप्त हो जाता है एवं यज्ञेश्वर की प्रीति उत्पन्न करता है। वह प्रीति, प्रसन्नता या प्रसाद ही निष्काम कर्मकर्ता का योग्य पुरस्कार है। वही "अमृत" है। पञ्चमहायज्ञों का अवशिष्ट अन्न "यज्ञशिष्ट" और यजमान का भोग्य अन्न "अमृत" कहलाता हैं। वस्तुतः वह प्रसाद या भगवत्प्रीति का रूपान्तर मात्र है। उसको खाने से चित्त शुद्ध होता है एवं अशुचि स्पर्श से उत्पन्न पाप, बुद्धिपूर्वक किये गये पाप और अबुद्धिपूर्वक किये गये पाप नष्ट हो जाते हैं।

त्याग और ग्रहण—ये ही दो कर्म के अङ्ग हैं। जो असार होने से हेय है, उसका त्याग करना और जो ससार होने से उपादेय है, उसका ग्रहण करना, ये दोनों क्रियाएँ ही कर्म या यज्ञ का स्वरूप है। प्रकृति-राज्य में सभी पदार्थ साकर्य दोष से युक्त हैं। यहाँ ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें बिलकुल मल न हो और ऐसी भी वस्तु नहीं है जिसमें केवल मल ही मल हो और कुछ न हो। जगत् की सभी वस्तुओं में शुद्ध और अशुद्ध अंश सम्मिलित है। क्रिया-कौशल से शुद्धाशुद्ध मिश्रित पदार्थ से क्रमशः उस अशुद्ध अंश का त्याग और शुद्ध अंश की वृद्धि होती है। उक्त क्रियाकौशल ही यज्ञ का रहस्य है। जिसके द्वारा यह त्याग ग्रहणरूप सारासार विवेचन क्रिया निष्पन्न होती है वही चैतन्य शक्ति है। यज्ञीय परिभाषा में उसी का प्रतिनिधि है यथाविधि सुसंस्कृत 'अग्नि'। शक्ति के सुप्त रहने पर कर्म नहीं होता। उसे जगाकर और साधनादि द्वारा संस्कृत कर उससे कर्म किया जाता है। अग्न्याधान आदि क्रिया उसी की केवल पारिभाषिक संज्ञा है। कुण्डलिनी के जाने बिना जैसे योग-क्रिया सिद्ध नहीं होती वैसे ही होमाग्नि के प्रज्वलित हुए बिना यज्ञ का काम भी सिद्ध नहीं होता।

मूल शक्ति के एक और अभिन्न होने पर भी व्यवहार-भूमि में वह नाना और भिन्न है। मूल शक्ति में यद्यपि क्रम नहीं है तो भी जागतिक शक्ति में जो क्रम है उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। स्तरभेद से ऊर्ध्वगति या विकास की क्रमिक अभिव्यक्ति आदि उसी के ऊपर निर्भर हैं। ऊपर चढ़ने की सीढ़ी पर पदार्पण करने के पहले सर्वप्रथम शक्ति के जागरण का अनुभव होता है। उसके बाद इसी स्तर में जाग्रत् शक्ति के प्रभाव से मलिनांश दूर हो जाता है और शुद्धांश प्रकाशित होता है। उसके अनन्तर उच्चतर भूमि की जाग्रत शक्ति में उस शुद्धांश की आहुति दी जाती है। पहली अग्नि से दूसरी अग्नि तीव्रतर होती है। प्रथम अग्निपरीक्षा में जिसका शुद्धांश रूप से निर्णय किया जाता है, द्वितीय अग्नि में आहुति देने के बाद उस शुद्धांश में भी सूक्ष्म मल दिखाई देता है। दूसरी अग्नि उसे जला देती है और उस शुद्धांश को शुद्धतर करके प्रकाशित करती है। यद्यपि वह शुद्ध अंशभी सर्वथा अशुद्धि रहित नहीं है तथापि द्वितीय अग्नि की क्रिया से वह अशुद्धि प्रतीत नहीं होती। उसके बाद तृतीय अग्नि की क्रिया चलती है। इस प्रकार जब तक अशुद्धि रहती है तब तक अग्नि की दाहिका शक्ति दहनकार्य में और मलापसारण कार्य में व्यापृत रहती है। सत्य से मल के पूर्णतया निकल जाने पर वह विशुद्ध सत्त्व के नाम से परिचित होता है। अग्नि उस समय फिर अग्नि नहीं रहती, क्योंकि मल या अशुद्धि दाह्य है— दाह्य के न रहने पर दाहिका शक्ति भी कार्य नहीं करती। तब फिर अग्नि अग्नि नहीं कही जा सकती। तब वह विशुद्ध ज्योति मात्र है। उसमें एक ओर विशुद्ध ज्योति और दूसरी ओर विशुद्ध सत्त्व विद्यमान रहते हैं।

विषय को और अधिक स्पष्ट कर समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मनुष्य देहात्मबोध लेकर जिस भूमि में विद्यमान है, वही निम्नतम भूमि है। जैसे विभिन्न जीव लोकों में पृथ्वी निम्नतम है वैसे ही ज्ञानभूमियों में से जिस भूमि में स्थूल देह में आत्मप्रतीति होती है वही निम्नतम भूमि है। इस कारण इस अधोभूमि में ही पहले से शक्ति का जागरण[1] आवश्यक है। जाग्रत् शक्ति का पहला ही कार्य आत्मबोध को स्थूल देह से हटा कर ऊपर के स्तर में ले जाना है। व्यष्टि मानव

---

१. यद्यपि एक प्रकार से शक्ति सर्वदा और सर्वत्र जाग्रत् ही है तथा जब तक उसकी अपने की प्राप्ति नहीं होती तब तक उसकी सुप्त में ही गणना की जाती है। शक्ति को प्राप्त करना ही शक्ति का जागरण है। तभी वह व्यवहार भूमि में अवतीर्ण होती है।

देह या पिण्ड, समष्टि देह या ब्रह्माण्ड एवं महासमष्टि देह या विश्व सर्वत्र ही विश्लेषण करने पर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पांच प्रधान स्तरों या कोषों का पता चलता है। अन्नमय कोष स्थूल है। पहले उस कोष से अभिमान निकल कर प्राणमय कोष में जाता है। उसके लिये सप्तधातुमय अन्नमय कोष के सार वीर्यरूप बिन्दु का दोहन कर उसकी अनुरूप अनल (अग्नि) में आहुति देनी पड़ती है। ऊर्ध्वरेतस्त्व अथवा बिन्दु की ऊर्ध्व-गति का यही मूल साधन है। पञ्चाग्निमय महायज्ञ के प्रारम्भ मे पहले भी अग्नि में या जठरानल में सौम्यवस्तु या आहार्य की आहुति देने से अर्थात् प्राणाग्निहोत्र यज्ञ के प्रभाव से क्रमशः सप्तम धातु का विकास होता है। जो अभिमान स्थूल देह में अहं-भाव प्रकट करता है वह मूलतः उसी बिन्दु का अवलम्बन करके रहता है। साधारणतः बिन्दु की आहुति देना संभव नहीं है, इसलिए बिन्दु बहिर्मुख होता है और अवश्यंभावी मृत्यु का कारण होता है।[1] ज्ञानपूर्वक

---

१. बिन्दु की बहिर्मुख होने की रीतियाँ हैं—मनुष्यदेह में विद्यमान असंख्य नाड़ियों या सिराओं में हृदय से संलग्न मनोवहा नाम की एक नाड़ी है। उसकी शाखा प्रशाखाएँ सारे शरीर में व्याप्त रहती है। उस नाड़ी के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवरण मिलता है—

> अश्वत्थनाड़ीवद् व्याप्ता द्विसप्ततिशताधिका।
> नाड़ी मनोवहेत्युक्ता योगशास्त्रविशारदैः॥

श्रुति में कहा है—"अन्नमय हि सौम्य मनः" मनोवहा नाड़ी अन्नरस द्वारा हृदयान्तर्वर्ती मन को आप्यायित करती है। यही अन्नरस की सूक्ष्मसत्ता सम्पूर्ण देह में तेज के रूप में संचित होती है, जिसके कारण देह में कान्ति, सौन्दर्य, लावण्य, धृति, स्वास्थ्य आदि गुणों का विकास होता है। किसी कारण से चित्त में कामना का उदय होने पर कामना और उसकी सहकारिणी इन्द्रियाँ मिलकर उस व्यापक तेज को मथ कर स्थूल वीर्य रूप में परिणत करती हैं। साथ ही साथ मनवहा नाड़ी उसे सारे शरीर से खींचकर घनीभूत बिन्दु का रूप प्रदान करती हैं एवं अपने बहिर्मुख वेग से देह से निकाल देती है, देह में रहने नहीं देती। बिन्दु-क्षरण का यही तात्पर्य है। महर्षि अत्रि ने इसी कारण अन्नरस, कामना और मनोवहा नाड़ी इन तीन कारणों के सम्मिलन से अभिव्यक्त बीज को "त्रिबीज" नाम दिया है। (द्रष्टव्य नीलकण्ठ चतुर्धर का भारत-प्रदीप)। बिन्दु का क्षरण होता है कालाग्नि कुण्ड में। जरा, मरण, विकार, मालिन्द आदि उसी के फल हैं।

बिन्दु की ऊर्ध्वगति होने पर "जीवनं बिन्दुधारणात' इस नियम के अनुसार नित्य जीवन अवश्यम्भावी है।[1]

बिन्दु की आहुति पड़ती है द्वितीय अग्नि में। उसका ओजोरूप सार भाग प्राणमय द्वितीय कोष की पुष्टि करता है। देह का प्रथम अमृत वीर्य है, वह अन्नमय कोष का पोषक है। द्वितीय अमृत ओज है, वह प्राणमय कोष का पोषक है। किन्तु जब तक ओज शुद्ध नहीं होता तब तक मनोमय कोष को पुष्ट नहीं कर सकता। उस शुद्धि के लिए तृतीय अग्नि में ओज की आहुति देनी पड़ती है। तब ओज निर्मल होकर मन के रूप में प्रस्फुटित हो उठता है। ओज का मलिन अंश निकल जाता है और शुद्ध अंश मनोमय कोष की पुष्टि करता है। मन का धर्म संकल्प और विकल्प है, अतः मनोमय सत्त्व सर्वथा निर्मल नहीं है। साधारणतः मनुष्य मात्र ही उक्त विकल्प के अधीन है। चतुर्थ अग्नि में मन की आहुति होने पर मन से वह विकल्पांश हट जाता है और विशुद्ध संकल्पमात्र शेष रह जाता है। इसी का नाम विज्ञान है। विज्ञान के द्वारा विज्ञानमय कोष की

---

१. ज्ञानपूर्वक न होने पर भी स्वाभाविक नियम के अनुसार बिन्दु की ऊर्ध्वगति क्षीणरूप से (मन्दगति से) होती ही है। उस गति को रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। वही क्रमशः शुद्ध होकर सहस्रार के मध्य बिन्दु में—सदाख्या कला में—प्रकट होता है। योगशास्त्र में प्रसिद्ध है कि शङ्खिनी नाड़ी अन्न का सार लेकर मस्तक में सुधा का संग्रह करती है।

"अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि संचिनुते सुधाम्।"

यही दैहिक प्रकृति का नियम है किन्तु यह सुधा या चन्द्रबिन्दु पूर्ण अक्षर बिन्दु नहीं है, आंशिकरूप से इसका क्षरण होता है। इसीलिए ब्राह्मी स्थिति नहीं होती और कालराज्य से छुटकारा नहीं मिलता। वस्तुतः यह बिन्दु ही निरन्तर कालाग्नि कुण्ड में गिर रहा है जिसके कारण जीव-देह जरा और मृत्यु से अपना बचाव नहीं कर सका रहा है। ज्ञानपूर्वक बिन्दु की क्रमिक ऊर्ध्वगति सिद्ध होने पर स्थिति प्राप्त होती है। यह ऊर्ध्वगति-सिद्धि क्रम के बिना भी हो सकती है। तो भी सज्ञानभाव आवश्यक है। ऐसा भी हो सकता है (अवश्य उसका कथन यहाँ पर नहीं हो रहा है) कि ऊर्ध्वगति का प्रश्न ही नहीं, किसी प्रकार की भी गति नहीं होती, सब प्रकार की गतियों के मध्य में ही गतिहीन स्वप्रकाशमय स्थिति प्राप्त हो जाती है। किन्तु प्रकाश को स्वप्रकाश होना आवश्यक है यहाँ तो उसका रहना भी न रहने के समान है।

पुष्टि होती है। यही योग भूमि अथवा ऐश्वरिक जीव की भूमि है।[1] विज्ञान में अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही हैं। अनुकूल ज्ञान सुख और प्रतिकूल ज्ञान दुःख है। प्रतिकूलता ही विज्ञान का मल है। इसलिए विज्ञान की भी अनुरूप अग्नि में आहुति देनी पड़ती है। पञ्चम अग्नि में शुद्ध होकर विज्ञान आनन्दरूप में परिणत होता है। यही पञ्चम अमृत है जो आनन्दमय कोष का उपजीव्य है। उसमें मल न होने के कारण उसका शोधन नहीं होता। यह नित्य, अमृत और अक्षय है। चाहे व्यष्टिरूप हो चाहे समष्टिरूप, यह आनन्दमय कोष ही मां की गोद है अर्थात् आनन्दरूपा माँ की सत्ता है। यह पञ्चम अमृत विशुद्ध सत्त्वमय परमानन्द है। इसकी फिर आहुति नहीं देनी पड़ती।

आहुति भले ही न देनी पड़े तो भी कहना पड़ता है कि वहाँ पर भी एक प्रकार की आहुति है। एक प्रकार से वही अन्तिम आहुति है। यद्यपि उसका अन्य आहुतियों के समान आहुति रूप से वर्णन करना ठीक नहीं है फिर भी आहुति से अन्य कोई योग्य नाम भी तो उसे नहीं दिया जा सकता। वही "ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" है। आनन्दमय कोष भी कोषों में ही गणनीय है, इसलिए उसका भी अतिक्रम करना पड़ता है। वह एक ओर आत्मसमर्पण या अपने को रिक्त करना है और दूसरी ओर पूर्ण आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा—अपरिच्छिन्न, अनन्त-स्वरूप शक्तिमय आत्मस्वातन्त्र्य में अधिष्ठान है।

जहाँ तक मृत्यु का सम्बन्ध है अथवा मलिनता है वहाँ तक तो आहुति की आवश्यकता है। वहीं तक अग्नि भी है। उसके अनन्तर आत्मस्वरूप में अग्नि का समारोपण होता है। अमृतीकरण और मल का अपसारण पूर्ण होने पर लौकिक दृष्टि से आहुति के लिए अवकाश नहीं रहता। किन्तु यथार्थ में पूर्णता के मार्ग में यहाँ पर भी आहुति की आवश्यकता है। उक्त प्रकार से प्राप्त आनन्द या पर-मानन्द का भी समर्पण करना पड़ता है। वह नित्य सत्तारूप होनेपर भी द्वितीय रूप में ही आस्वादित होता है। इसलिए वह भी एक प्रकार से भोग के ही अन्त-र्गत है। जब तक उसका समर्पण नहीं होता तब तक भोक्तृभोग्य भाव से रहित अद्वय विशुद्ध चैतन्य में स्थिति नहीं होती है। "चिदवसानो भोगः।" वस्तुतः आनन्द ही तो प्रियतम को उपहार देने के लिए एकमात्र योग्य वस्तु है। पहले पाँच दिव्य अग्नियों में आनन्द के साथ मिश्रित रूप से निरानन्द का अर्पण हुआ

---

१. यद्यपि यह जीव की ही भूमि है तो भी साधारण जीव की नहीं। विज्ञान भूमि का जीव विज्ञानमय और सत्यसंकल्पतावश योगसिद्ध है, इसलिए वह जीव होने पर भी 'ईश्वर' पदवाच्य है। उस भूमि में मनोवहा नाड़ी की कोई क्रिया नहीं होती।

है। उसके कारण आनन्द का उज्ज्वलतम रूप क्रमशः स्वायत्त हुआ। चरम आहुति में उस महान् आनन्द का भी या अमृत का भी समर्पण कर आनन्द से परे स्व-स्वरूप में स्थिति प्राप्त की जाती है। ऐसा होने पर मूल अविद्या की ग्रन्थि खुल जाती है और द्वन्द्वातीत परम साम्य में प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" आनन्द ही वह हिरण्यमय मात्र है, जिसके द्वारा पूर्ण सत्य का स्वरूप आवृत है।

मृत्यु उन्हें देनी होगी, अमृत भी देना होगा, दुःख उन्हें देना होगा, उसके बाद आनन्द भी देना होगा। उन्हें हेय देना होगा साथ ही साथ उपादेय भी देना होगा। तभी तो निर्मल प्रकाश का उदय होगा। तभी तो एक मात्र वह सर्वातीत, द्वन्द्वातीत, सत्ता ही, जो सब रूपों में अनन्त द्वन्द्वमय विकासों के रूप में प्रकाशमान हुई है, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगी। अमृत और मृत्यु, दुःख और सुख उन्हीं के रूप हैं। लौकिक या अलौकिक किसी अग्नि की सामर्थ्य नहीं है जो उस चरम आहुति या पूर्णाहुति का ग्रहण कर सके, क्योंकि वह निर्मल अमृत है। एकमात्र ब्रह्माग्नि या विशुद्ध चैतन्य रूप अग्नि में ही उस परम अमृत सोम को धारण करने की क्षमता है। उसमें अग्नि और सोम एकाकार होते हैं—चैतन्य और आनन्द, अथवा शिव और शक्ति सामरस्य प्राप्त करते हैं हैं। इसी का नाम परिपूर्ण सत्य है।

योगी लोग साधारणतः पाँच स्तरों में विश्व को विभक्त कर व्याख्या करते हैं, इसलिए यहाँ पर भी पाँच स्तर लिये गये हैं। यह संख्या का निर्देश केवल समझाने की सुविधा के लिए है। पाँच स्तर-विभाग लिये हैं इसीलिए अग्नियों का भी पाँच रूपों में एवं अग्नियों द्वारा शोधित अमृत का भी पाँच रूपों में ग्रहण किया गया है।[1] वास्तव में स्तर अनन्त और असंख्य हैं—अथच एक ही स्तर-

---

१. याज्ञिकों की पञ्चाग्नियों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। उपनिषत् में पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में पञ्चाग्नि का वर्णन है। तपस्वी लोग वानप्रस्थ आश्रम में पञ्चतपा करते थे (भागवत ४-२३-५; १५।१८)। वे लोग जिन सूर्यादि पाँच अग्नियों का अवलम्बन करते थे, वह दूसरा प्रकार है। प्रस्तुत निबंध में अग्नियों का जो विभाग दिखाया गया है उसका सम्बन्ध कोष भेद के साथ है, कार्यभेद से भी अग्नि के भिन्न भिन्न नामों का उल्लेख शास्त्रों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ—मारुत, चान्द्रमस, शोभन, हुताशन, हव्यवाहन, वह्नि, साहस, वरद, मृढ़, जठराग्नि, क्रव्याद, वाडव, संवर्तक, पावक आदि नामों का उल्लेख किया जा सकता है। सुरेश्वराचार्य ने देहस्थित—कालाग्नि; वाडवाग्नि, वैद्युताग्नि, पार्थिवाग्नि, सूर्याग्नि प्रभूति का उल्लेख किया है (दक्षिणामूर्ति वार्तिक ९।१०)।

हीन अखण्ड सत्ता सर्वत्र विराजमान है।

दिव्य पाँच अग्नियों की क्रिया समाप्त होने पर अग्नियों का आत्मा में पूर्ण-रूप से आरोप हो जाता है। उस समय आत्मभाव अनात्मसत्ता से हट कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सृष्टि-रहस्य अत्यन्त विचित्र है। यहाँ अमृत और मृत्यु, आनन्द और दुःख, शुद्ध सत्त्व और रजस्तम, अच्छा और बुरा साथ साथ संलग्न रहते हैं। आत्म-बलि रूप यज्ञ के द्वारा उनका विभाग कर शुद्ध सत्त्व अंश के सम्बन्ध से ऊपर उठा जाता है। अशुद्ध अंश का तत्काल के लिए परिहार करना पड़ता है। क्रमशः ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जिसमें अमृत रहता है, मृत्यु नहीं रहती, आनन्द रहता है, दुःख नहीं रहता, सार वस्तु रहती है, असार वस्तु नहीं रहती, शुद्ध सत्त्व रहता है, रज और तम नहीं रहते। यहीं पर शोधन का एक प्रकार से अन्त कहा जा सकता है। इसके अनन्तर महाज्ञान का उदय होने पर अमृत और मृत्यु का भेद नष्ट हो जाता है। आनन्द और दुःख का फिर पृथक् रूप से बोध नहीं होता। उस समय दिखाई देता है एक ही स्वप्रकाशमय चिदानन्दमय महाप्रकाश मानो भीतर और बाहर ओतप्रोत भाव से (वस्तुतः भीतर बाहर उस समय कहाँ है ?) अपने में विराजमान। यही पूर्ण साक्षात्कार की अवस्था है[1]

(५)

यज्ञ के लिए ("यज्ञो वै विष्णुः") या भगवान् के लिए जो कर्म है अथवा यज्ञरूप जो कर्म है उसे यदि सम्पन्न करना हो तो सर्वप्रथम देहाभिमान की शुद्धि आवश्यक होती है। एक ओर व्यष्टिदेह के अभिमान की और दूसरी ओर समष्टि

---

१. यहाँ पर क्रम का अवलम्बन करके ही पर पर अवस्थाओं का उदय और उसके बाद साक्षात्कार की बात कहीं गई है। यह क्रम अवश्य ही अनेक प्रकारों से हो सकता है। किन्तु यह सत्य है कि वास्तविक साक्षात्कार अक्रम है—उसमें क्रम नहीं है अर्थात् क्रम भी वहाँ पर अक्रम में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। साधक की योग्यता के तारतम्य अथवा शक्ति के तारतम्य से क्रमभेद होता है। आणव, शक्ति और शाम्भव इन तीन उपायों में से शाम्भव उपाय श्रेष्ठ है। अनुपाय की तो कथा ही नहीं है—अनुपाय में किसी उपाय के नियन्त्रण के बिना ही परमेश्वर का पूर्ण समावेश होता है। शाम्भव उपाय में भी क्रमिक साधना की आवश्यकता नहीं रहती। एक साथ अखण्ड सत्ता का भान होता है। प्रातिभ ज्ञान में क्रम नहीं है। उसमें एक ही क्षण में सब का पूर्ण प्रतिभास अपरोक्ष रूप से होता है।

देह के अभिमान की शुद्धि आवश्यक है। वस्तुतः प्रकृति या स्वभाव के गुणों द्वारा ही एवं मूल में चित्शक्ति की प्रेरणा से ही सब कर्म होते हैं। किन्तु मनुष्य जब तक अहङ्कार से विमोहित रहता है तब तक अपने में कर्तृत्व का अभिमान करता है। उक्त मिथ्याभिमान के कारण कर्मविपाक होने से होनेवाले सुख-दुख भोग से सम्बद्ध हो पड़ते हैं। यज्ञरूप कर्म की जड़ में इस प्रकार के अशुद्ध अभिमान का मोह नहीं रहता और व्यक्तिगत आकाङ्क्षा की पूर्ति की कामना भी नहीं रहती। इसलिए वह विशुद्ध कर्म है।

इस कारण उसका आरम्भ करने के पूर्व ही देहस्थित आधार कुण्ड में होमाग्नि को प्रज्वलित करने की आवश्यकता होती है। वह अग्नि यद्यपि मूल में एक ही है तो भी उसके आकृतिगत और प्रकृतिगत अनेक भेद हैं। तदनुसार कर्मगत और अधिकारगत भेद भी विद्यमान हैं। प्राण और अपान के संघर्ष से अथवा प्रणव और आत्मा के ध्यानरूप मन्थन से अथवा अन्य किसी उपाय से अग्नि को प्रज्वलित करना पड़ता है। अनादि काल से जो अमूल्य रत्न उपेक्षित होकर गुप्त रूप से पड़ा हुआ है उसका उस प्रदीप्त अग्नि के आलोक से अन्वेषण कर आविष्कार करना चाहिये। लौकिक आलोक तो क्या दिव्य आलोक भी उस 'गुहाहित' पदार्थ को प्रकाशित करने से समर्थ नहीं है।

योगी लोग जिसको कुण्डलिनी का उद्‌बोधन कहते हैं वह इस होमाग्नि बोधन का ही भीतरी पर्याय हैं। आत्मविस्मृत, संशयाच्छन्न जीव श्वास प्रश्वास के अधीन रह कर इडा पिङ्गलामय कालराज्य में विचरण कर रहे हैं। जब तक कुण्डलिनी नहीं जगती तब तक काल-मार्ग का त्याग कर सुषुम्नारूप मध्यमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता एवं मध्यमार्ग में प्रविष्ट हुए बिना योगस्थ होकर कोई कर्म करने का भी कोई उपाय नहीं है।[१] मध्य मार्ग में कुछ दूर तक प्रवेश पा सकने

---

१. 'मध्य' कहने से वास्तव में शुद्ध चित् का बोध होता है, कारण कि वही सब वस्तुओं की अन्तरतम है एवं उसकी भित्ति पर खड़ा होकर ही सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है। किन्तु मायिक अवस्था में शुद्ध चित् निजस्वरूप में रहकर भी मायिक खेल के लिए अपने स्वरूप का गोपन करती है और स्वभावतः प्राण, बुद्धि और देह भाव धारण कर हजारों नाड़ियों के जाल में व्याप्त होती है और नाड़ीमार्ग का अनुसरण करता है। उन सब नाडियों में मध्य नाड़ी प्रधान है। वह देह के ऊपर से नीचे तक फैली है। वही प्राणशक्ति का आश्रय है। सब नाड़ियों के उदय और विश्रान्ति का वही एक मात्र आधार है। जब तक उस नाड़ी का विकास नहीं होता तब तक साधक का पशुभाव नष्ट नहीं होता। परमेश्वर के समान सृष्टि आदि पांच कर्मों के कर्तृत्व की भावना, विकल्पक्षय,

पर ही समझ में आवेगा कि स्थूल शरीर से निष्क्रमण और सूक्ष्म देह के प्रथम स्तर में प्रवेश हुआ है। श्वास कालनाडी को छोड़ना आरम्भ कर देता है और सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर नीचे ऊपर संचार करता रहता है। बाह्य जगत् की स्मृति उस समय प्रायः लुप्त हो जाती है, किन्तु भीतर चैतन्य उज्ज्वल रूप से प्रस्फुटित हो उठता है। आगे की भूमि में सुषुम्ना के अन्दर स्थित वज्रा नाडी में[1] प्रवेश होता है और सूक्ष्मदेह के प्रथम स्तर से निकाल कर दूसरे स्तर में स्थिति होती है। उस समय वज्रा नाडी की शाखाप्रशाखाओं में संचार होता रहता है। इसके बाद चित्रिणी नाड़ी में प्रविष्ट होने पर संशयरहित ज्ञान का उदय होता है। हृदयग्रन्थि कट जाती है और विकल्पमय अशुद्ध जीवभाव नष्ट

शक्तिसंकोच, शक्तिविकास आदि बहुत से उपायों से उक्त विकास हो सकता है (द्रष्टव्य प्रत्यभिज्ञाहृदय)। योगकुण्डलिनी उपनिषत् में जो शक्तिचालनरूप सरस्वतीचालन और प्राणरोधरूप नाना प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख है उसका भी एक मात्र फल यही है। विज्ञानभैरव में शाक्तक्षोभ, कुलावेश आदि और भी कितने ही विशिष्ट उपायों का विवरण दिखाई देता है। सभी का मूल लक्ष्य मध्यनाड़ी में प्रवेश है।

१. भूतशुद्धि तन्त्र में लिखा है कि सुषुम्ना के अन्दर कुछ ऊपर वज्रा और उसके ऊपर चित्रिणी नाड़ी स्थित है। इसीलिए सुषुम्ना त्रिगुणारूप में प्रतीत होती है अर्थात् वज्रा और चित्रिणी के साथ संमिलित होकर त्रिसूत्र रूप में दिखाई देती है। गौतमीतन्त्र के मतानुसार सुषुम्ना सर्वतेजोमयी है। त्रिवर्णानुसार सुषुम्ना अग्निरूप और तमोगुणात्मिका है, वज्रा सूर्यरूप और रजोगुणात्मिका है तथा चित्रिणी चन्द्ररूप और सत्त्वगुणात्मिका है। ऐसी भावना करने का विधान है। ब्रह्मनाड़ी "शुद्धबोधप्रबोधा" और त्रिगुणातीता अथच सर्वगुणमयी है। वह मूलाधार स्थित स्वयंभूलिंग छिद्र से लेकर सहस्रार में स्थित परम शिव पर्यन्त फैली है। ब्रह्मरन्ध्र उसी के मुँह में है—सुषुम्ना का मूल भी यहीं पर है। श्रीतत्त्वचिन्तामणिकार पूर्णानन्द कहते हैं कि मेरु के मध्य में सुषुम्ना है, उसके मध्य में (कन्द से दो अंगुल ऊपर स्थित लिंगस्थान से निकली हुई) वज्रा नाडी है और वज्र के मध्य में प्रणव-विलसित चित्रिणी नाडी विराजमान है। ब्रह्मनाडी चित्रिणी के भी अन्दर है। छुरिकोपनिषत् में सुषुम्ना के अन्तर्गत कैवल्यनाड़ी का प्रसंग आया है। वह संभवतः ब्रह्मनाड़ी का नामान्तर है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् के राजयोगभाष्य में सुषुम्ना को ब्रह्मनाड़ी कही गई है। शास्त्र में और भी बहुत से स्थलों में इसी प्रकार वर्णन आया है। स्थूल दृष्टि से सुषुम्ना को ब्रह्मनाड़ी कहने में कोई दोष नहीं है।

हो जाता है । इसी का नाम सूक्ष्म देह के तृतीय स्तर में विश्राम-लाभ है । उस समय ज्ञानसूर्य का उदय होता है एवं हृदयकमल उस सूर्य की निर्मल किरणों के संस्पर्श से प्रस्फुटित हो जाता है, खिल जाता है । चित्रिणी के भीतर की ब्रह्म-नाडी में प्रवेश पाने पर अपना स्वरूप हृदय से लेकर द्वादशान्त[1] (ब्रह्मरन्ध्रस्थ महाशून्य) तक स्पन्दनशील दिखाई देता है । यही ब्रह्मनाल में स्थिति है, शुद्ध-कारण देह में या महाकारण देह में स्थिति है एवं जगज्जननी मां की गोद में विश्राम है ।[2] विशुद्ध अमृत ही मुख्य भोग है । उससे बढ़कर और कोई भोग

१. छत्तीस अंगुल के प्राण-संचार-मार्ग के एक छोर पर हृदय है और दूसरे छोर पर द्वादशान्त या विसर्गान्त पद है (जहाँ पर महा प्रकाश का अनुभव होता है) उस मार्ग में निरन्तर बिना किसी प्रयत्न के वर्णों का उदय होता रहता है । वह स्वाभाविक है । किन्तु पद और मन्त्र का उदय साधक के प्रयत्न के बिना नहीं होता । वर्ण के उदय में पर और सूक्ष्म भेद से तारतम्य है । जिसका परवर्ण के रूप में उल्लेख किया गया है उसकी भी परतर और परतम ये दो अवस्थाएँ हैं । सर्वोत्तम अथवा गम्भीरतम अवस्था ही परतम वर्ण के उदय रूप से प्रसिद्ध है । यही नाद का परम स्वरूप है । उसमें सम्पूर्ण वर्ण परस्पर के पार्थक्य का त्याग कर अविभक्त रूप से सामान्यतः निरन्तर ध्वनित होते हैं । वह नित्यउदित हैं, उसका तिरोभाव कभी नहीं होता । वास्तविक अनाहत नाद का यही स्वरूप है ।

२. कारणदेह और महाकारण देह में भेद है । कारणदेह मायामय, अज्ञानात्मक और आनन्दप्रधान है, किन्तु महाकारण देह महामायामय, ज्ञानात्मक और ह्लादप्रधान है । दोनों देह यद्यपि अचित् रूप है तो भी प्रथम अशुद्ध और द्वितीय नित्य शुद्ध है । पहला त्रिगुणमय और प्राकृत है, दूसरा शुद्ध सत्त्वमय और अप्राकृत है । स्थूल और लिंग शरीर कारण से अद्भूत और संसार में संचरणशील हैं । महाकारण शरीर कारण से अतीत और स्वरूपानन्द का आस्वादन करनेवाला है । प्रथम का क्षेत्र एकपाद विभूति है और द्वितीय का क्षेत्र त्रिपाद विभूति है । तन्त्रमतानुसार महाकारण देह ही वैन्दव देह है—जाग्रत् कुण्डलिनी से उसकी उत्पत्ति होती है । वेदान्त आदि ग्रन्थों में कोई प्रयोजन न होने के कारण महाकारण देह की आलोचना नहीं है, किन्तु नाथ योगियों ने, कबीरादि सन्तों ने, दत्तात्रेय आदि अवधूत पुरुषों ने तथा वैष्णव, शैव और शाक्त आगम के अनुयायी सभी साधकों ने किसी न किसी रूप में स्पष्टतया इसे स्वीकार किया है । इस देह में चित् शक्ति साक्षात् रूप से स्थित है । यही खिष्टीय साधक समाज में Pneumatic Body जो Pneuma या चित् शक्ति द्वारा सदा प्रकाशित है । कारणदेह की एक पीठ मायामय है, वही प्रचलित कारण शरीर है, वही निर्मल महाकारण के नाम से परिचित है । वही विशुद्धज्ञानदेह है ।

नहीं है । उस समय चैतन्यमय स्थिति और अत्यन्त शान्ति होती है । उस समय वस्तुतः भोग और शान्ति अथवा स्थिति और क्रिया का भेद नष्ट हो जाता है अर्थात् सब कुछ रहते हुए भी मानो कुछ भी नहीं रहता ।

आगम में कहा है, यज्ञ का यथार्थ स्वरूप तभी हृदयंगम होता है जब इन्द्रिय-गोचर और इन्द्रियातीत सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों की आहुति देने की योग्यता प्राप्त हो जाती हैं । उस समय इन्द्रियाँ स्रुक् होती हैं (हवि के आधार होमसाधन जूहू को स्रुक् कहते हैं), स्वयं होता है होता, अपने आत्मरूपी शिव होते हैं अग्नि और शक्तियाँ होती हैं अग्निज्वालाएँ, अर्थात् परिच्छिन्न चिदात्मा स्वयं ही होता बनकर अपरिच्छिन्न, विशुद्ध चैतन्यात्मक निज स्वरूपभूत अग्नि में इन्द्रियसंवेद्य सब विषयों की इन्द्रियों द्वारा आहुति देता है । निज बोधरूप अग्नि में सब भाव समर्पित होकर अपनी अपनी पृथक्ता और भेद का त्यागकर एकमात्र बोधरूप में स्फुरित होते हैं । इसी का नाम अमृतीभाव है । इस प्रकार बोध के प्रदीप्त होनेपर इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवियाँ इस अमृत का भोग करती हैं अर्थात् परमबोध रूप से परामर्श करती हैं । देवियाँ तृप्त होकर परमबोध के साथ अभेद को प्राप्त होती हैं । उस समय महास्वातन्त्र्य का उदय होता है और परम प्रकाश के साथ अद्वैतभाव में स्थिति होती है । यही पूर्णता का पूर्वरूप है ।

(६)

यज्ञ के रहस्य अर्थ की कुछ कुछ आलोचना की जा चुकी है । सकाम कर्म-काण्डियों और साधारण जनता की यज्ञ के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में चाहे जो भी धारणा हो निष्काम भाव से अनुष्ठित यज्ञ का तात्पर्य उससे कहीं अधिक गम्भीर है ।[1] पञ्चकोषभेद की दृष्टि से अथवा सुषुम्ना की अन्तर्वाहिनी

---

१. "सर्व वेद्यं हव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुचः शक्तयो ज्वालाः स्वात्मा शिवः पावकः, स्वमेव होता.' (परशुरामकल्पसूत्र १।२६) । इस विश्वहोम का या सर्व-त्याग का वर्णन ही निम्नलिखित पद्य में किसी एक महापुरुष ने किया है—

"अन्तः प्रभास्वति निरन्तरमेधमाने मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूम्नि विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम् ॥"

अर्थात् पृथ्वी तत्त्व से लेकर शिव तत्त्वपर्यन्त, ३६ तत्त्व और उनसे विरचित सम्पूर्ण विश्व की मैं संविद्अग्नि में—विशुद्ध महाचैतन्य रूप अग्नि में—आहुति देता हूँ । महान्धकारका विनाश करनेवाले और अलौकिक किरणों को फैलाने-वाले ये अग्निदेव निरन्तर हृदय में प्रदीप्त हो रहे हैं । जो महान् अग्निदेव शिव तत्त्व को निगल सकते हैं वे तत्त्वातीत अखण्ड प्रकाश हैं इसमें सन्देह ही क्या है ?

ऊर्ध्वगति की दृष्टि से एक ही अद्वितीय लक्ष्य अध्यात्म मार्ग के भाग्यवान् पथिक के सामने प्रकट होता है। निष्काम कर्म रूप यज्ञ का गूढ़तम आदर्श आत्मत्याग है। आत्मसाक्षात्कार के साथ साथ स्व-स्वरूप में स्थिति ही आत्मयाग का चरम फल है। यज्ञ के आदर्शभूत उत्कर्ष का इस परम लाभ की ("यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः") दृष्टि से ही सुधी लोगों ने निर्णय किया है।

किन्तु जब तक परम सौभाग्य उदित नहीं होता तब तक किसी की भी यज्ञ के इस महान् लक्ष्य की ओर दृष्टि नहीं पड़ती। जो इस दृष्टि को प्राप्त होकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे कहते हैं—

"यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे॥"
[भट्ट श्रीवीरवामनक]

द्वैतवन जिसमें इन्धन है, मृत्यु ही जिसमें महापशु है, ऐसे अलौकिक यज्ञ को, जो अति उच्च आदर्श है, समझने में क्लेश नहीं होता। आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि जिनका यही अन्तिम जन्म हो और जिनके ऊपर चित्शक्ति सुप्रसन्न हों एकमात्र ऐसे विरले महात्मा के हृदय में ही ऐसे रहस्यमय यज्ञ का स्वरूप प्रतिफलित होता है। वह जनसाधारण का बुद्धिगम्य नहीं है :—

"एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः॥"

किन्तु यज्ञ की एक और दृष्टि है जो इस महान् आदर्श के साथ सम्बद्ध है।[१] इसकी सूचना पहले ही दी जा चुकी है। शास्त्रों में अनेक स्थलों मे यज्ञ विश्वरक्षा का श्रेष्ठतम उपाय होने से "विष्णु" रूप में वर्णित हुआ है। श्री

जिसमें किसी का भी स्वरूप कभी लुप्त नहीं होता उस परमसाम्यमय अखण्ड प्रकाश में सब देश, सब काल, स्थूल और सूक्ष्म सभी वस्तुएँ अपनी अपनी विशेषता को लेकर भी अभिन्न रूप से सदा विद्यमान हैं। योगवासिष्ठ रामायण में (निर्वाण, उत्तरार्द्ध, सर्ग १२५-१२-१४) कहा है—

अतीतं वर्तमानं च भविष्यत् स्थूलमप्यणु।
तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च॥
स्वरूपमजहत्येव सामान्ये भाति सर्वदा।
सर्वात्मनि स्थिताम्येव॥

अर्थात् अतीत, अनागत और और वर्तमान, दूर और निकट, निमेष और कल्प—ये सब अव्यक्त स्वरूप सत्तासामान्यरूपी सर्वात्मा में नित्यस्थित हैं।

भगवान् ने गीता में (३-१०-१३) कहा है कि सृष्टि के आरम्भ से ही प्रजापति ने यज्ञ के साथ मनुष्यों को सम्बद्ध कर उनकी रचना की। उन्होंने कहा है मनुष्यों का कर्तव्य देवताओं को भावना करना है अर्थात् हविर्द्रव्य द्वारा देवताओं का संवर्द्धन करना है। इस प्रकार मनुष्यों द्वारा संवर्द्धित देवताओं का कर्तव्य मानवों की भावना करना है अर्थात् उनका आप्यायन करना है, सब प्रकार से उन्हें अभिलषित भोग देना है। इन सब देवप्रदत्त सम्पत्तियों का देवताओं के उद्देश्य से अर्पण न करके भोग करने से ऋणी होना पड़ता है। इस तरह परस्पर भावना द्वारा ही विश्वचक्र चलता है। जगत् का कल्याण करनेवाली इस महानीति की उन्होंने सृष्टि के आरम्भ में प्रचलित किया। उन्होंने किसी से भी अपने लिए भावना करने को नहीं कहा। मनुष्य देवताओं के लिए भावना करें, अपने लिए नहीं। यही परामर्थ कर्म है। जीव के साथ भगवान् के आन्तरिक सम्बन्ध की दृष्टि से भी यही नीति दीख पड़ती है। क्योंकि जो भक्त अनन्य-चित्त होकर भगवान् का ध्यान करते हैं, अपने सम्बन्ध में चिन्तन करने का जिनको अवसर नहीं, भगवान् स्वयं उनका योगक्षेम करते हैं, अर्थात् उनके लिए चिन्ता करते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति व्यक्तिगत भाव से अपनी कामना पूर्ति की चेष्टा करते हैं, जो क्षुद्र अहंकार के अधीन होकर स्वयं ही अपनी सब कमियों को दूर करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उनके लिए विशेष रूप से भगवान् को चिन्ता करने का अवसर नहीं होता—भगवान् उनका सारा भार नहीं लेते। भाव यह कि जो यज्ञार्थ कर्म से विमुख हैं, जो स्वार्थ चिन्ता में लवलीन है, दूसरों की चिन्ता में जिसका हृदय तत्पर नहीं होता, जो भगवान् द्वारा परिचालित मङ्गलमय यज्ञात्मक[1] "जगत्चक्र" का अनुवर्तन नहीं करता, उस इन्द्रियाराम व्यर्थ-जीवन व्यक्ति के लिए विश्व-संस्थान में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है—वह कालचक्र में पीसे जाने को बाध्य होता है। तथापि कालचक्र भी ब्रह्म-चक्र के ही अन्तर्गत है, इसलिए इस निष्पेषण का फल थी परिणाम में शुभावह होता है—कारण कि उसी से यथासमय उसकी सत्य दृष्टि का उन्मेष होता है और वह सत्य भाव से भावित होने में समर्थ होता है।

---

१. ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्मों से चिरस्थायी स्वर्गादि भोग और ऐश्वर्य के सिद्ध होने पर भी जरा, जन्म और मृत्यु की पीड़ा से छुटकारा नहीं मिलता। इसीलिए श्रुति से स्पष्टरूप से सकाम यज्ञों की निन्दा की है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

(७)

यहाँ पर श्री माँ के आश्रम में अनुष्ठित महायज्ञ के सम्बन्ध में आनुषङ्गिक रूप से दो एक बातें कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। यद्यपि इस विषय में कुछ कहने की मुझमें योग्यता नहीं है तथापि न मालूम किसकी प्रेरणा से कुछ कहने को उद्यत हुआ हूँ। यह यज्ञ साधारण यज्ञ नहीं है यह समझने में विलम्ब नहीं होता। देखा जाता है कि पहले से ही एक अचिन्त्य महाशक्ति की प्रेरणा से वह क्रमशः कार्यरूप मे परिणत हुआ है। वह कि व्यक्ति विशेष के स्वार्थ अपना कल्याण की कामना से किया गया हो सो बात नहीं है, किसी सम्प्रदाय विशेष या देश विशेष का भी वह नहीं है। इस अनुष्ठान का सुफलस्वरूप जो श्रेय और प्रेय उत्पन्न होगा वह भी किसी व्यक्ति विशेष, सम्प्रदाय विशेष या देश विशेष की सम्पत्ति नहीं है। सम्पूर्ण मनुष्यों का सर्वाङ्गीण कल्याण ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। इस महायज्ञ का यद्यपि निष्काम भाव से ही अनुष्ठान हुआ था तथापि संकल्प के समय मनुष्य मात्र की इष्ट-प्रीति ही इसका उद्देश्य मानकर संकल्प किया गया था। मनुष्यों का इष्ट यद्यपि बाह्य दृष्टि से पृथक् प्रतीत होता है तो भी मूल में वह एक और अभिन्न हैं। आनन्द अर्थात् विशुद्ध अपरिच्छिन्न परमानन्द ही सबका एकमात्र इष्ट है। जो जिसे चाहता है, प्यार करता है, वह आनन्द के लिए ही चाहता हैं। यद्यपि रूप, नाम, प्रकाश और पद्धति भिन्न है तो भी सभी की अभिलषणीय वस्तु निर्मल आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यवहार में चाहना और चाहने की प्रक्रिया के भिन्न होने पर भी लक्ष्य भिन्न नहीं है। उस आनन्दरूप महाशक्ति की प्रीति या प्रसन्नता ही इस महायज्ञ का उद्देश्य है। इष्टदेव के प्रसन्न होने पर ही सब देवता प्रसन्न होते हैं, मार्ग के सब कण्टक दूर हो जाते हैं—"तस्मिस्तुष्टे जगत् तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत्।" इष्ट के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर किसी को आनन्द की कमी नहीं रह सकती। इष्ट ही शक्ति या बल है। शक्ति प्राप्त होने पर जीव जड़त्व से छूट कर और पशुभाव को कुचल कर स्वयं ही शिवस्वरूप में विराजमान होता है। आत्मा यद्यपि मल के सम्बन्ध से प्राकृत जीव या पशुभाव में प्रकट होता है तथापि यथार्थ में वह शिव ही है। मल का आवरण हट जाने पर वह अपने स्वभाव शिवरूपता में पुनः प्रतिष्ठित होता हैं। इसी लिए श्रुति ने कहा है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

जिस अग्नि से यह महायज्ञ सम्पन्न हुआ है वह साधारण मथित अग्नि नहीं है। अग्निदेव के जन्म के बाद लगभग बीस वर्षों तक विधिपूर्वक उनकी परिचर्या कर उनके पूर्णविकास के समय उनसे यह कार्य सम्पन्न किया गया है। साधारण अग्नि द्वारा इस महान् कार्य का अनुष्ठान होना सम्भव न था। संवत् १९८३ की

दीपावली अमावास्या के दिन जो अग्नि प्रज्वलित हुई थी संवत् २००३ को उसी अग्नि से सावित्री महायज्ञ आरम्भ हुआ। एक दृष्टि से देखा जाय तो यथार्थ में उसी अग्नि ने तो अविच्छिन्न रूप से संरक्षित होकर इस महाग्नि के रूप में अपने को प्रकट किया। एक ही अखण्ड अग्नि है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु अन्य दृष्टि से देखा जा सकता है कि यह महाग्नि पूर्वकाल की अग्नि का पूर्णतम प्रकाश है। काल पूर्ण न होने के कारण इतने दिनों तक उसकी महत्ता लोगों की दृष्टि में नहीं झलकी। किन्तु जो सर्वदर्शी हैं, जो सब कर्मों के सञ्चालक और द्रष्टा हैं, एकमात्र वे ही उसका रहस्य जानती थीं।

सब अग्नियों से सब कार्य सम्पन्न नहीं होते हैं इसकी पहले ही मीमांसा हो चुकी है। जिस कर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी महाकल्याण है वह साधारण अग्नि द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वर्तमान अग्निदेव उत्पत्ति के समय में भी असाधारण थे, इसीलिए उनका इतने समय तक महाकर्म की साधना के लिए जतन से संरक्षण किया गया था। यदि ऐसा न होता तो संवत् १९८३ की दीपावली को ही होम के अन्त में इस अग्नि का विसर्जन हो जाता। वर्तमान समय में वङ्गदेश के सदृश 'अराजक' प्रदेश में लगभग २० वर्ष तक विरोधी शक्तियों के क्रियाशील घेरे के अन्दर इस अग्निको जाग्रत् रखना कोई सहज काम न था।

माँ ने इस अग्नि का नाम रखा था "विश्वरूप"। इस नामकरण में भी एक रहस्य दृष्टिगोचर होता है। आगमोक्त होमाग्नि और दिव्याग्नि का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इन अग्नियों की जिह्वा में ही आहुतियों का समर्पण किया जाता है। अग्नि की सात जिह्वाओं में से छः छः दिशाओं में फैली रहती हैं। मध्य स्थित सातवीं जिह्वा मध्य से लेकर उत्तर दक्षिण में फैली रहती है। उसी का शास्त्रीय नाम 'बहुरूपा' है। केन्द्रस्थित होने के कारण वही प्रधान और सर्वार्थ-साधक है। अन्यान्य जिह्वाओं में आहुतियों का जो फल है "बहुरूपा" जिह्वा में आहुतियों का फल उसकी अपेक्षा कई गुना अधिक है। मां के द्वारा अग्नि का "विश्वरूप" नामकरण इस बहुरूपा की बात का स्मरण करा देता है। वह अग्नि की महिमा का ही अभिव्यञ्जक है।

और एक बात है। यह अग्नि वस्तुतः ही दिव्याग्नि है, यह बात दूसरी दृष्टि से भी समझ में आ सकती है। १९८३ संवत् की कालीपूजा के यज्ञ में पूर्णाहुति न देकर यज्ञाग्नि की बिना बुताए रक्षा की गई एवं यथाविधि उसकी सेवा भी की गई। जिस समय शाहबाग में तालाब के किनारे कुण्ड में सर्वप्रथम इस अग्नि की स्थापना की गई थी, उस समय कुण्ड के नीचे तीन बड़ के पत्तों

में मां ने स्वयं दिव्य लिपि में यज्ञाग्नि के कोयले से कुछ लिख दिया था। यह अग्निदेव की विशिष्टता का एक उदाहरण है। दिव्य होने के कारण ही अग्निदेव ने एकाधिक बार प्रयोजनानुसार दर्शन दिये थे। अग्निदेव की विशालता और व्यापकता कालीपूजा के अवसर पर भी ज्ञात हुई थी। वर्तमान यज्ञ के यजमान श्रद्धेय श्रीयुक्त नेपालचन्द्र चक्रवती को (जो वर्तमान समय में श्रीमत् नारायण स्वामी के नाम से परिचित हैं) सावित्री याग में प्रवृत्त होकर जो कई अलौकिक दृश्य दिखाई दिये थे उनसे भी अग्नि के महत्त्व का अनुमान होता है।

इस प्रसङ्ग में और भी एक विषय ध्यान देने योग्य है। वह यह कि इस यज्ञ के आरम्भ के पहले जिस समय अग्निसंग्रह की बात उठी थी उस समय अरणिमन्थन द्वारा अग्नि को उत्पन्न कर उसके द्वारा यज्ञ सम्पादन करने का प्रस्ताव आचार्य श्रीयुक्त अग्निष्वात्तजी ने किया था, किन्तु मां को प्रतीत हुआ कि यह महाकार्य मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। ढाका की अग्नि का इतने दिनों से इसी के लिए जतन से संरक्षण हुआ है यह भी उन्होंने समय पर इशारे से किसी भक्त से कहा था। तथापि वे व्यक्तिगत रूप से किसी ओर विशेष आग्रह प्रकट नहीं करती हैं। कारण कि वे जानती थीं कि जो होनेवाला है वही होगा, एवं घटनावश सचमुच वही बात देखने में आई। जिस कार्य के लिए जो अग्नि आवश्यक है उसके समाधान के लिए उसी अग्नि की कार्यकारिता फलदायक होती है। शास्त्र कहते हैं,

"आहूयैव तु होतव्यं यो यत्र विहितोऽनलः।

....

अविदित्वा तु यश्चाग्निं होमयेदविचक्षणः॥
न हुतं न च संस्कारं न च कर्मफलं लभेत्।"

अर्थात् अग्नि को जाने विना होम करने से होम सिद्ध नहीं होता, संस्कार उत्पन्न नहीं होता एवं कर्मफल की प्राप्ति भी नहीं होती।

एक कोटि गायत्री मन्त्र द्वारा पूर्वोक्त अग्नि से होम सम्पन्न होने के कारण यह यज्ञ 'सावित्री यज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सावित्री या गायत्री सब वेदों की सार है एवं उनसे उद्धृत है। यह धर्मसूत्रकार आपस्तम्ब का मत है। मनु ने भी कहा है कि तीन वेदों का दोहन कर सावित्री के स्वरूप का निर्माण किया गया है। इसी कारण सावित्री का अनुवचन होने पर उससे सब वेदों का अनुवचन हो जाता है। सावित्री, गायत्री अथवा सरस्वती साक्षात् ब्रह्मविद्यास्वरूपा हैं। यह बात अवश्य स्मरण में रखनी चाहिये कि ब्रह्मविद्या की सहायता के बिना पूर्वोक्त महालक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी कारण अन्य मन्त्रों से आहुति

न देकर गायत्री मन्त्र से ही आहुति देने की व्यवस्था की गई। साक्षात् हो अथवा परम्परा से हो ब्रह्मविद्या ही सब मनुष्यों की एकमात्र इष्ट देवता है।

जिस स्थान पर यज्ञशाला का निर्माण हुआ था बहुत पहले अर्थात् आश्रम के लिए भूमि खरीदने के बाद ही उस स्थान पर सूक्ष्म शरीरधारी ज्योतिर्मय महा-पुरुषों ने नृत्य किया था, यह कहा जा चुका है। यह स्थान देव-यजन भूमि है। इस स्थान में भविष्य में विश्वकल्याणकारी अनुष्ठान होगा यह जानकर ही उन्होंने आनन्द व्यक्त किया था। यह नृत्य भी शुभ परिणाम का ही सूचक है। एक ओर गंगातीर, उसके ऊपर ज्ञानक्षेत्र या मुक्तिभूमि, सर्वोपरि भावी महायज्ञ का स्थान, यही महापुरुषों के आनन्द का हेतु है ऐसा प्रतित होता है। स्वयं माँ का साक्षात रूप से इसके साथ सम्बन्ध है—यह भी उनके आनन्द का विशेष कारण माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में और अधिक कुछ लिखना शेष नहीं है। माँ जिस स्थान पर स्वयं कर्णधार हैं उस स्थान पर शुभ फल के विषय में सन्देह को स्थान नहीं है। माँ ने स्वयं ही उसका एक आभास भी दिया है (द्रष्टव्य पृ० ८७)। दुःखपीड़ित जीव उस शुभ दिन की प्रतीक्षा कर रहा है। जगत के ऊपर मां के आशीर्वाद की वृष्टि हो, विश्व के इष्ट देवता प्रसन्न हों, सम्पूर्ण जगत असत्य, अन्धकार और मृत्यु का ग्रास होने से मुक्त होकर सत्य, ज्योति और अमृत के सदा शान्तिमय मन्दिर में आश्रय प्राप्त करे—यही माँ के श्रीचरणों में एकान्त प्रार्थना है।

श्रीगोपीनाथ कविराज

■

❀ श्री ❀

श्री माँ के काशीधाम के आश्रम में

अखण्ड महायज्ञ

(१)

महायज्ञ की सूचना

श्री आनन्दमयी माँ के काशीधाम के आश्रम में जो महायज्ञ तीन वर्ष तक निरन्तर चलकर गत सौर ३० पौष सं० २००६ (१४-१-५०) को समाप्त हुआ था उसके विषय में मै जितना ही विचार करती हूँ उतना ही उसकी विचित्रता और उत्कृष्टता को देख कर आश्चर्य में पड़ जाती हूँ। ऐतिहासिक युग में इस तरह का कोई और यज्ञ हुआ था या नहीं इसमें सन्देह है। यह यज्ञ और इसके अङ्गभूत साधन देख कर पञ्जाब के श्री त्रिवेणीपुरी जी तथा उत्तरकाशी के श्री देवीगिरि जी ने कहा था— "इस प्रकार का यज्ञ न कभी हुआ और न कभी होगा।"

अब मैं सोचती हूँ कि उक्त दोनों महापुरुषों की उक्ति सोलह आने सत्य है। जिस अचिन्त्य महाशक्ति की प्रेरणा से यह यज्ञ आरम्भ हुआ था एवं जिन्होंने हम लोगों को निमित्तमात्र बना कर धूमधाम के साथ इस महायज्ञ की पूर्णाहुति की थी उनके ऐश्वर्य और महिमा का स्मरण कर हम लोगों का सिर उनके श्री चरणों में स्वतः ही झुक जाता है। यद्यपि लंगड़े का पर्वत लांघना, सूखे वृक्ष का नूतन पल्लवों तथा पुष्पों से लहलहाना साधारण दृष्टि से असम्भव है, फिर भी महाशक्ति की इच्छा से जिस किसी समय में एवं जिस किसी प्रकार से वह सम्भव हो सकता है, यह बात इस यज्ञ से ही बहुत कुछ मेरी समझ में आ रही है।

आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व श्री माँ से जब इस प्रकार के एक यज्ञ का संकेत प्राप्त हुआ था तब वे केवल एक कुलवधू थीं। उनके भक्तों की संख्या अंगुलियों में गिनी जा सकती थी। उस समय तक श्री माँ का न तो कोई आश्रम ही स्थापित हुआ था और न उसकी स्थापना की कोई

कल्पना ही किसी के मन में उदित हुई थी। जनता के निकट वे अपरिचित थीं। इसलिए ऐसे समय में माँ के मुँह से एक महायज्ञ की बात सुन कर यह यज्ञ कहाँ होगा, किस तरह होगा एवं किसके द्वारा होगा, इस सम्बन्ध में विचार करने का हमारे पास कोई साधन न था। फिर भी माँ के श्रीमुख से वह बात निकली थी, इसलिए उसकी अवश्यम्भाविता के सम्बन्ध में हमें सन्देह न था एवं जब हमें कुछ काम काज करना नहीं रहता तब कभी-कभी इस यज्ञ के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के मनसूबे बाँध कर हम कितना आनन्द लूटते थे, यह कह नहीं सकती। किन्तु जब यह अस्पष्ट संकेत वास्तविकता में परिणत हुआ तब हमें ज्ञात हुआ कि कभी-कभी प्रत्यक्ष सत्य भी अपनी विचित्रता में कोरी कल्पना को भी अपने सामने पराभूत करने की सामर्थ्य रखता है।

जिस अग्नि से यह यज्ञ हुआ उसकी उत्पत्ति एक काली-पूजा के उपलक्ष्य में हुई थी। श्री माँ के उद्देश्य से कई बार काली-पूजा हुई। इन सब पूजाओं का उल्लेख इस यज्ञ के इतिहास में अप्रासंगिक न होगा, विशेषतः श्री माँ के भक्तों में अनेकों को उनका ज्ञान नहीं है, अतः इस सम्बन्ध में उनको कौतूहल होना स्वाभाविक है। इसलिए मै संक्षेप में उनका थोड़ा बहुत उल्लेख यहाँ कर रही हूँ।

बाबा भोलानाथ जी के पूर्वजों के समय से ही दीपावली को उनके घर पर (ढाका जिले के आठपाड़ा कोला गाँव में) प्रतिवर्ष कालीपूजा होती थी। यह पूजा बड़ी सात्त्विकता से होती थी एवं इसमें कोई पशु-बलि भी नहीं होती थी। बहुत पहले शायद पशुबलि भी होती हो, किन्तु एक बार इस काली का एक अद्भुत प्रादुर्भाव हुआ। सम्भवतः इसी कारण पशुबलि सदा के लिए वन्द हो गई। ऐसी एक किंवदन्ती भी है कि एक बार दीपावली के दिन इस वंश के गुरूजी जब कालीपूजा करने बैठे थे तब देवी-पूजा के विषय में संदिग्धचित्तवाले किसी पुरुष ने मिट्टी की मूर्ति की पूजा निष्फल है एवं इस प्रकार की पूजा से देवी का प्रकट होना कदापि संभव नहीं है इस आशय की छोटी सी वक्तृता दे डाली। इस पर गुरूजी ने हाथ का अरघा लेकर देवी के गाल पर छूते हुए तनिक आघात कर कहा था—"क्यों री क्या तू ही नहीं आती है ?" आघात करते ही देवी के गाल से झर-झर रक्त की धारा बहने लगी थी। यह देख कर उस समय वहाँ पर उपस्थित सब लोगों में एक अभूतपूर्व भक्तिस्रोत उदित हुआ एवं उनका अविश्वास भी निवृत्त हो गया।

बाबा भोलानाथ जी के समय वंश की यह वार्षिक पूजा कभी उनके घर (आठपाड़ा) होती थी और कभी जहाँ वे नौकरी करते थे वहाँ होती थी। जिस वर्ष भोलानाथ जी को घर से यह समाचार मिलता कि घर पर पूजा न हो सकेगी, उसी वर्ष वे जहाँ उनकी नौकरी रहती, वहीं इस पूजा का आयोजन करते थे। श्री माँ की उपस्थिति के समय भी उक्त पूजा हुई थी। बाबा भोलानाथ जी जब बाजितपुर में काम करते थे तब माँ की उपस्थिति में एक बार यह पूजा हुई। पूजा करने का स्थान ढाका के नवाब के स्टेट के सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री भूदेव बसु के बाहर के घर के आँगन में बनाया गया था एवं भोग बनाने का प्रबन्ध बाबा भोलानाथ जी के घर के आंगन में किया गया था। दोनों जगह उक्त कार्यों के निर्वाह के लिए दो छोटे-छोटे टीन के छप्पर डाल दिये थे। भूदेव बाबू तथा भोलानाथ जी के घर के बीच और एक घर था।

मैं पहले ही लिख चुकी हूँ कि बाबा भोलानाथ जी की यह वार्षिक पूजा खूब शुद्धता से की जाती थी। इस बार की पूजा के लिए भी मां ने बड़ी शुद्धता के साथ चावल बीन-फटक कर रख छोड़े थे। किन्तु कौआ चोंच मार कर उन्हें जूठा कर गया। अतएव वे हटा दिये गये एवं दूसरी बार फिर भोग के लिए चावल मँगा कर साफ कर बनाये गये। रसोई माँ ने नहीं बनाई थी, किसी दूसरी स्त्री ने बनाई थी। आधी रात को जब पूजा लगभग समाप्त हो चुकी, पुजारी ने बाबा भोलानाथ जी से भोग लाने को कहा। भोग की दाल, साग आदि अन्यान्य सामग्री बन चुकी थी, केवल चावल बनाना बाकी था। पुजारी से यह कहा गया तो उन्होंने सोचा कि चावल चुरने में कुछ विलम्ब होगा, इसलिए वे पूजा समाप्त कर हवन करने बैठ गये।

इधर रसोई बनाने वाली भात उतार कर पत्थर के दो थालों में भात एवं दाल, साग आदि अलग-अलग सजा कर जलाने की लकड़ियों के ढेर के सहारे लेटे-लेटे सहसा सो गई। रसोई घर में केवल एक दिया जल रहा था। माँ वहाँ जाकर रसोई घर के छोटे दरवाजे के बीच में ऐसे बैठ गई कि जिससे और कोई रसोई घर में बाहर से घुस न सके।

पहले ही कहा जा चुका है कि रसोई घर से पूजा का स्थान कुछ दूर था। भोलानाथ जी के घर तथा भूदेव बाबू के घर के बीच एक दूसरे घर के केवल दो कमरे ही न थे, किन्तु एक घर को दूसरे घर से पृथक् करने के लिए एक के बाद एक बहुत से चटाई के घेरे भी थे। इसलिए मां जहाँ पर बैठी थीं, वहाँ से पूजा के स्थान की कोई बात सुनना या कुछ

देखना सम्भव न था। किन्तु सच तो यह है कि माँ वहीं बैठे-बैठे पूजा के मन्त्र आदि साफ-साफ सुन रही थीं और पूजा की विविध क्रियाओं तथा हवनाग्नि को स्पष्टरूप से देख रही थीं। ये सब उनकी केवल कल्पनाएँ या अनुमान नहीं थे। कारण जिस समय की बात मैं कह रही हूँ उस समय श्री माँ केवल बालवधू मात्र थीं पूजा के विधि-विधानों का उन्हें कुछ भी परिज्ञान न था। इसलिए कहना पड़ेगा कि माँ ने जो देखा था वह प्रत्यक्ष देखा था। इसी समय अकस्मात् एक घटना घट गई—श्री माँ ने अपने दाहिने अंग से हिमशुभ्र दिव्यकान्ति एक पुरुष का आविर्भाव होते देखा। उसका शरीर ऊँचा और गठा हुआ था एवं कान्ति कुछ लालिमा लिये थी। उसकी शरीर-कान्ति चारों ओर छिटक गई थी। जैसे स्वच्छ आकाश में पूर्ण चन्द्रमा का उदय होने पर उसकी किरणें चारों ओर छिटक पड़ती हैं वैसे ही उस दीप्तिमान् पुरुष की शरीर की दीप्ति से घर, कमरा, रसोई घर आदि सब के सब चमक उठे थे। रसोई घर का दीपक उस उज्ज्वल प्रकाश से एकदम मलिन और फीका पड़ गया था। माँ के शरीर से बाहर निकल कर उस पुरुष ने जहाँ पर भोग सजा कर रक्खा था, वहाँ जाकर भोग माँ के सामने रख दिया तथा अँगूठा, मध्यमा और अनामिका—इन तीन अंगुलियों से तीन बार अन्न उठा कर ले लिया तदनन्तर वह जहाँ से आविर्भूत हुआ था वहीं विलीन हो गया। श्री माँ बैठे-बैठे निर्विकार भाव से यह सब देख रही थीं। पूजा के स्थान में उस वक्त भी हवन हो रहा था। जो वहाँ थे उन्हें इसका पता तक न लग सका कि रसोई के इस छोटे से कमरे में कैसी अद्‌भुत घटना घट गई! वह ज्योतिर्मय पुरुष कौन था यह कौन बताये? यज्ञेश्वर ने स्वयं इस मूर्ति में आकर भोग-ग्रहण किया अथवा ब्रह्ममयी माँ ने अपने को इस रूप में प्रकट कर भोग-ग्रहण किया यह हम आज तक माँ से नहीं जान सके। इन सब विषयों में माँ से यदि पूछा भी जाय तो विशेष लाभ की आशा नहीं, कारण पूछने पर माँ का वचन रहित मन्दहास ही उसका उत्तर होगा। फिर भी हमें इतना तो ज्ञात हुआ कि श्री माँ ही उस दिव्य पुरुष की "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी" हैं एवं माँ का श्री अंग ही उसकी उत्पत्ति और लय का स्थान है।

अस्तु, हवन समाप्त होने पर बाबा भोलानाथ जी भोग लेने आये। वे भोग के दो थाल दोनों हाथों में रख कर चले। सब के आगे-आगे एक आदमी गोबर-जल छिड़कते हुए चला। उसके पीछे एक आदमी हाथ

में लाठी लेकर और दूसरा लालटेन लेकर जा रहा था। इसी बीच अकस्मात् कहीं से एक काला कुत्ता प्रकट हुआ। लाठी मारने पर भी वह भोलानाथ जी को छू कर एक ओर भाग निकला। भोलानाथ जी स्तम्भित रह गये। इधर थोड़ी देर में सबेरा हो जायगा इस आशङ्का से वे तालाब के किनारे एक आम के पेड़ के नीचे दोनों थालों को रख कर जल्दी स्नान कर आये और उन्होंने जल्दी नये सिरे से फिर भात बनाने की आज्ञा दी। किन्तु उस समय कौए के जूठे चावलों के सिवा और अरवा चावल घर में न थे। बाजार से चावल खरीद कर भोग बनाने का अवसर भी उस समय न था। अगत्या भोलानाथ जी ने माँ से कहा—"बेटी[1] की जब यह व्यवस्था है तब उन कौए के जूठे चावलों को ही भोग बनाने के लिए निकाल दो। मालूम होता है उन्हीं को खायेगी।" वही किया गया। जब भोलानाथ जी तालाब के किनारे से भोग के थाल लाने को गये तब उन्होंने उन थालों को जिस प्रकार वे रख आये थे ज्यों की त्यों देखा। किसी ने उन्हें छुआ तक न था। जिस काले कुत्ते ने लाठी की चोट कुछ न गिन कर भोग अशुद्ध किया था उसका भी कुछ पता न चला। निवेदित पदार्थों का पुनः निवेदन होना ठीक नहीं, यह बतलाने के लिए ही क्या कोई कुत्ते के रूप में तो नहीं आया था यह भी कौन कहे?

अस्तु, भोलानाथ जी ने वह भोग तालाब के जल में छोड़ दिया और दोनों थालों को माँज कर वे पुनः स्नान कर आये। साग भाजी तो दूसरे वर्तन में पहले से बनाई हुई तैयार थी ही, पुनः भात बनाकर भोग लगाया गया। रात खुलने में अधिक विलम्ब न देख कर पुरोहित जी जल्दी-जल्दी प्रसाद पाने के लिए बैठे। इस रात्रि में जो-जो घटनाएँ घटी थीं उन्हें माँ ने भोलानाथ जी से कह कर पुरोहित को जताने के लिए कहा। भोलानाथ जी ने जब यह वृत्तान्त पुरोहित से कहा तब उन्होंने बड़ी उतावली के साथ कहा—"वह भोग कहाँ है? वही तो असली भोग है। कुत्ते के छूने पर भी वह नष्ट नहीं हुआ। मैं उसी को ग्रहण करूँगा।" उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि वह भोग जल में छोड़ दिया गया है तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने उदास होकर कहा—"उस महाप्रसाद को पाने का अधिकारी भी तो होना चाहिये। इसीलिए, मालूम होता है, भोग की ऐसी व्यवस्था हुई है।"

---

१. यहां पर बेटी शब्द देवी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वाजितपुर के बाद बाबा भोलानाथ जी की नौकरी ढाका के नवाब के शाहबाग में लग गई। वहाँ भी संवत् १९८२ और ८३ की दीपावली को दो बार काली-पूजा हुई थी। संवत् १९८२ को शाहबाग में जो काली-पूजा हुई थी वह भोलानाथ जी की वंशगत पूजा न थी। क्योंकि इस पूजा के होने पर भी माँ के आदेशानुसार दूसरे पुरोहित द्वारा अन्य स्थान में भोलानाथ जी की वार्षिक पूजा सम्पन्न की गई थी। शाहबाग में जो पूजा हुई थी वह पूजा करने के लिए भक्तों ने माँ से अनुरोध किया था, किन्तु माँ पूजा करने के लिए सहमत नहीं हो रही थीं। यह देख कर अन्त में बाबा भोलानाथ जी ने ही माँ पर दवाव डालना आरम्भ कर दिया था। एक भाव सदा ही हमने माँ में देखा है, वह यह कि यदि भोलानाथ जी विशेषरूप से माँ से कोई काम करने को कहते तो माँ उसका पालन करने का प्रयत्न करती थीं। हमने माँ का ऐसा भाव भी देखा है कि जब कोई अनुरोध आग्रह उनके ऊपर असर न कर पाता तब उनका शरीर निर्विकार पत्थर के समान पड़ा रहता था।

माँ को सर्वसाधारण रूप से कभी किसी ने पूजा करते नहीं देखा। माँ के अन्दर जो विविध अवस्थाएँ प्रकट हुई हैं वे साधारण नहीं हैं। मां की दीक्षा आदि का खेल भी अलौकिक रूप से अपने आप ही सम्पन्न हो गया। बावा भोलानाथ जी के कथनानुसार माँ जब काली-पूजा करने बैठी थीं तब वह पूजा भी जिस रीति से सम्पन्न हुई थी वह भी हमारी जानकारी में सर्वथा नवीन थी। माँ की पूजा जिस समय चल रही थी उसी समय बलिदान के लिए हृष्ट-पुष्ट, शुभ लक्षण युक्त एक बकरा लाया गया था। बकरे का उत्सर्ग करते समय मां ने उसे अपनी गोद में बैठा कर बहुत देर तक आँसू बहाये। तदनन्तर उसके प्रत्येक अङ्ग को मन्त्रों से पवित्र कर उसे छोड़ दिया। उसके पश्चात् एक अद्भुत घटना हुई। बकरा शान्त और निर्विकार भाव से अपने आप जाकर बलि के खूंटे के पास खड़ा हो गया। माँ अपने आसन पर ही काली जी की मूर्ति के सामने घुटनों के बल पट होकर पड़ी रहीं। बलिदान के पहले बकरा जिस प्रकार आर्तस्वर में चीत्कार करता है, माँ ने भी उसी प्रकार तीन बार शब्द किया। तदुपरान्त अपने आप बलि का खड्ग हाथ में लेकर उसे अपनी गर्दन पर रखने लगीं। भोलानाथ जी को डर लगा कि कहीं माँ पीछे अपना भी इसी प्रकार बलिदान न कर डालें। उन्होंने उसे शीघ्रता से उनके हाथ से छीन लिया। माँ के हाथ से खड्ग छीन लेने पर माँ उठ बैठीं। इधर बकरे को जब बलि के लिए कटघरे पर चढ़ा

दिया गया तब उसमें अपनी जीवनरक्षा के निमित्त कोई चेष्टा नहीं देखी गयी। उसमें वही निर्विकार भाव था। माँ ने अपने शरीर में बकरे के समस्त प्राणान्तकर[1] भोग के लिए थे, सम्भवतः इसीलिए उसका इस प्रकार का शान्त भाव देखा गया था। बलि हो गई। आश्चर्य का विषय तो यह है कि बकरे के कटे शरीर से एक बूँद भी रक्त नहीं गिरा। पीछे बड़ी कठिनाई के साथ उसके गले से थोड़ा सा रक्त निकाल कर वह देवी को निवेदित किया गया।

इसके बाद संवत् १९८३ की दीपावली को जो काली-पूजा हुई उस काली-पूजा के साथ हमारे इस यज्ञ का विशेष सम्बन्ध है। इस बार भी माँ के भक्तों ने माँ के हाथ से काली-पूजा हो ऐसा प्रस्ताव किया था, किन्तु माँ किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुई थीं। यहाँ तक कि पूजा होगी या नहीं इस विषय में भी माँ ने कोई संकेत नहीं किया था। इसी बीच एक दिन मेरे पिता जी (जो बाद में अखण्डानन्द गिरि नाम से सुपरिचित हुए थे) माँ को अपने घर भोग देने के लिए गाड़ी से ले आ रहे थे। शाहबाग से हमारे घर आने का मार्ग लाट साहब की कोठी के पास से जाता है। इस कोठी के बाहर एक तालाब है। माँ को लिये पिता जी की गाड़ी जब उस तालाब के निकट पहुँची तब माँ ने देखा कि जमीन से १७-१८ हाथ ऊपर स्थित एक सजीव काली मूर्ति मानो माँ की गोद में कूदने को तैयार हो रही है। यह देख कर माँ ने भी मानो काली को अपनी गोद में लेने के लिए एक हाथ ऊपर उठा लिया। जो माँ के साथ थे, उन्होंने केवल माँ का हाथ उठाना ही देखा, वे और कुछ न देख सके। हमारे घर पहुँच कर जब माँ भोजन करने बैठीं उस समय भी माँ ने उस मूर्ति को पहले की तरह देखा एवं उसे देखते ही फिर अपना हाथ ऊपर उठाया। हमने माँ को दो बार उक्त रीति से हाथ ऊपर उठाते देखा था, किन्तु उस समय इसका कारण हम कुछ भी न समझ सके। कुछ दिनों के अनन्तर माँ ने इस काली मूर्ति के दर्शनों की बात स्वयं ही प्रकट की थी।

इस घटना के तीन या चार दिन बाद एक दिन, जब माँ शाहबाग के अपने रसोई घर में बैठ कर रसोई बना रही थी, श्रीयुक्त भूदेव बाबू आकर बाबा भोलानाथ जी के साथ काली-पूजा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रहे थे। इस वर्ष दीपावली पर कोई काली-पूजा होगी या

---

१. मृत्युकाल में होने वाली पीड़ाएँ।

नहीं एवं माँ गतवर्ष की भाँति स्वयं पूजा करेंगी या नहीं, यही सब बातें वे बाबा भोलानाथ जी से पूछ रहे थे। श्री माँ के शयन-गृह में बैठ कर ये सब बातें चल रही थीं। रसोई घर से माँ के शयन-गृह का कोई भाग दिखाई नहीं देता था एवं दूर होने के कारण वहाँ की बातें भी रसोई घर में सुनने का कोई साधन न था। अस्तु, भोलानाथ जी ने भूदेव बाबू से कह दिया कि माँ स्वयं काली पूजा करने के लिए किसी प्रकार सहमत नहीं हो रही हैं, एवं पूजा होगी या नहीं इस विषय में भी कोई संकेत नहीं कर रही हैं। भूदेव बाबू एक प्रकार से प्रायः निराश होकर लौट गये।

उसी दिन रात्रि के समय माँ ने भोलानाथ जी से पूछा—"क्या भूदेव बाबू कुछ पूछने आये थे ?" माँ का प्रश्न सुनकर भोलानाथ जी चौंक पड़े। क्योंकि भूदेव बाबू के आगमन के सम्बन्ध में उन्होंने माँ से कुछ नहीं कहा था एवं जिस समय भूदेव बाबू आये थे उस समय रसोई घर से उन्हें देखना या उनकी बातें सुनना किसी प्रकार संभव न था, यह बात मैं पहले ही कह आई हूँ। भोलानाथ जी ने उत्तर दिया—"हाँ, भूदेव बाबू आये थे, इस बार भी काली-पूजा हो और तुम्हीं पूजा करो इत्यादि अनेक बातें कह गये हैं।" यह सुनकर माँ ने कहा– "देखो, तुम्हीं पूजा क्यों नहीं करते ?" माँ की यह बात सुनकर भोलानाथ जी बहुत उत्साहित हुए, एवं उन्होंने सोचा कि एक बार जब माँ के मुँह से पूजा की बात प्रकट हो गई है, तब पूजा तो अवश्य होगी ही एवं थोड़ा बहुत अनुरोध प्रतिरोध करने पर शायद वे स्वयं पूजा करने को भी सहमत हो जाँय ! यह सोचकर भोलानाथ जी ने उस समय माँ के साथ इस विषय में वादविवाद करना उचित नहीं समझा और बाहर आकर सबको सूचित कर दिया कि मां ने दीपावलीके दिन कालीपूजा करने की अनुमति दे दी है। यह समाचार पाकर भक्तजन बहुत प्रसन्न हुए एवं वे बड़े उत्साह के साथ पूजा के सम्बन्ध में आपस में सलाह करने लगे। क्योंकि दीपावली आने में केवल एक ही दिन बाकी रह गया था। निश्चय हुआ कि आज रात्रि को ही काली-मूर्ति मंगाने की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। मूर्ति कितनी बड़ी होगी इस सम्बन्ध में चर्चा छिड़ने पर बाबा भोलानाथ जी मां से पूछने के लिए भीतर गये। भीतर जाकर उन्होंने मां को समाधिस्थ अवस्था में देखा। मां को प्रकृतिस्थ करने के लिए भोलानाथ जी ने बहुत प्रयत्न किये, किन्तु सफल नहीं हुए। इसी समय अकस्मात् उनके मस्तिष्क में एक विचार आया उन्होंने सोचा कि उस

दिन गाड़ी से जाते समय तथा दूसरी बार भोजन करते समय मां ने हाथ ऊँचा कर जो माप दिखाई थी, संभवतः वही मूर्ति की माप होगी। यह सोच कर उन्होंने मां को समाधि की अवस्था में ही उठा कर बैठाया और जिस तरह मां ने हाथ ऊँचा किया था उसी तरह हाथ पकड़ कर कमर से उस हाथ तक की नाप ले ली। ऊँचाई में वह सवा दो हाथ निकली। सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि इस नाप की मूर्ति का ही प्रबन्ध करना चाहिये।

उस नाप की मूर्ति की खोज करने के लिए बाजार जाने पर विदित हुआ कि इतनी बड़ी तैयार मूर्ति कहीं नहीं है। केवल एक स्त्री की दूकान में १३ तैयार मूर्त्तियाँ थीं, उनमें से १२ विभिन्न लोगों की माँग के अनुसार तैयार की गई थीं। एक मूर्ति उस स्त्री ने अपनी इच्छा से थोड़ी बड़ी बनाई थीं। केवल वही मूर्ति बिक्री के लिए शेष रह गई थी। नाप कर देखा गया तो उसकी ऊंचाई सवा दो हाथ निकली। अतः वही मूर्ति खरीद ली गई। माँ के भक्तों के लिए मानो वह मूर्ति अपने आप तैयार होकर बैठी थी। यदि ऐसा न होता तो इतने अल्प समय में इतनी बड़ी मूर्ति नये सिरे से तैयार करना बड़ा कठिन काम था। जो हो, जब मूर्ति शाहबाग लाई गई तब उसके कलेवर का रंग देख कर माँ ने कहा था प्रायः इसी रंग की कालीमूर्ति उस दिन मेरी गोद में कूदने को तैयार हुई थी। मूर्ति का घना काला रंग न था किन्तु श्याम वर्ण था।

दीपावली के दिन यथासमय पूजा का आयोजन किया जा चुका था। किन्तु उस दिन पूजा के पहले से ही माँ की चेष्टा कुछ अस्वाभाविक-सी थी, जड़ीभूत गंभीर मुद्रा थी। भोलानाथ जी माँ को उठा कर स्नान कराने ले गये। स्नान करके तालाब से आने पर भी उस भाव में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। नेत्र पहले के समान ही निश्चल थे और शरीर पत्थर के समान जड़।[1] किसी प्रकार धीरे-धीरे आकर माँ पूजा के कमरे में बैठीं। कमरा लोगों से ठसाठस भरा था। भोलानाथ

---

१. श्री माँ के मुंह से एकबार मैंने सुना था कि कुछ लोग सोचते हैं कि जिनको दैवी स्थिति प्राप्त हो जाती है उन्हीं की ऐसी निश्चल दृष्टि रहती है। योगियों की भी ऐसी पलकहीन दृष्टि देखने में आती है, अन्यान्य विशेष कारणों से भी ऐसा होता है। जिनका योगज विविध भावों से परिचय नहीं रहता केवल वे ही इस प्रकार के भाव को दैवी भाव समझते हैं। फिर जहां पर महायोगेश्वर की क्रीड़ा होती है वहां तो सब कुछ सम्भव है।

जी ने माँ से पूजा करने को कहा। मां ने जमीन पर बैठ कर ही पूजा करना आरम्भ कर दिया। यह पूजा भी नवीन ढंग की थी—मां दोनों हाथों से मूर्ति के ऊपर फूल और बेलपत्र बिखेर रही थीं। कभी कभी अपने सिर और पैरों पर पुष्पांजलि चढ़ा रही थीं, फिर स्वयं ही अपने पैरों पर प्रणाम कर रही थीं। इस प्रकार कुछ देर तक पूजा चली। इसके बाद मां सहसा खड़ी हो खिल खिला कर हँसने लगीं और भोलानाथ जी से बोलीं—"मैं अब बैठती हूँ तुम पूजा करो।" यह कह कर एक पलक में लोगों के बीचोंबोच से जाकर एकदम काली-मूर्ति से सट कर बैठ गईं। यदि वायु एक सूखे पत्ते को उड़ा कर ले जाय तो उस समय जैसी उसकी गति होती है माँ की गति भी प्रायः वैसी ही थीं। बाबा भोलानाथ जी पहले से ही पूजा करने के लिए सहमत न थे। मां की यह बात सुन कर वे बोल उठे—"मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मैं पूजा नहीं कर सकूँगा।" केवल यह कह कर ज्यों ही उन्होंने मां की ओर देखा त्यों ही सब के समान स्तम्भित होकर आंखें फाड़ कर मां की ओर ताकते रह गये। उनके मुँह से और कोई बात नहीं निकली। कारण कि इस बीच में मां के भाव में परिवर्तन हो गया था, साथ ही साथ मां का चेहरा बदल गया था। मां के शरीर से वस्त्र गिर पड़ा, मुंह में भी काली मां के ही भाव से जीभ बाहर निकल आई। हम लोग स्तम्भित होकर निर्निमेष दृष्टि से मां के मुँह की ओर ताकते रहे। और किसी के ऊपर दृष्टि डालने की मानो हम लोगों में सामर्थ्य नहीं रही। उस समय का वातावरण एक मुहूर्त में बिजली की तरह चमचमाता हुआ-सा प्रतीत हुआ था। लोगों की एक बड़ी भीड़ में यह घटना घटी थी फिर भी उसका वर्णन करने की क्षमता किसी में नहीं रही। सभी मानो किसी एक अलौकिक भाव में विभोर थे। सभी की दृष्टि मां के मुख की ओर लगी थी। मैं भी वहाँ पर एक दर्शक के रूप में विद्यमान थी। मेरे मन में भी उस समय यह विचार आया था कि क्या ये हमारी वही माँ हैं जो हमारे जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति की संगिनी हैं और हैं सर्वविध विचारों की अधीश्वरी?

उस दिन की घटना के अतिरिक्त उसके बाद भी माँ भिन्न-भिन्न कितने ही भावों की मूर्तियों में लोगों से देखी गई इसकी गणना नहीं की जा सकती? कितने ही लोगों ने माँ को कितने ही भिन्न-भिन्न भावों में देखा है। किसी ने माँ को राम की मूर्ति में, किसी ने कृष्ण की मूर्त्ति

में, किसी ने राधा की मूर्ति में, किसी ने दुर्गा की मूर्ति में, किसी ने शिव की मूर्ति में, किसी ने गौराङ्ग महाप्रभु की मूर्ति में और किसी ने गायत्री, दश महाविद्या आदि के रूप में देखा है और देख रहे हैं। और कोई माँ के श्रीविग्रह में अपने-अपने गुरुदेव या इष्टदेव की मूर्ति का दर्शन कर अवाक् रह गये हैं। और कोई माँ में स्थितप्रज्ञ के सम्पूर्ण लक्षण देख कर आश्चर्य में विभोर हो चुके हैं। कभी कभी माँ में बुद्धदेव तथा ईशुख्रीष्ट के भावों का भी विशेषरूप से आविर्भाव देखा गया है। मुसलमानों के नमाज पढ़ने की भावभङ्गी भी माँ के शरीर में प्रकट हुई है। कुरान की आयतें भी माँ के मुँह से हमने सुनी हैं। नानक साहब की विशेषता माँ में नहीं देखी गई हो सो बात नहीं है। माँ क्या हैं और क्या नहीं यह बतलाने की हममें क्या सामर्थ्य है। जो लोग जिस शुद्ध भाव से माँ के सन्मुख गये वे ही तदनुरूप किसी मूर्ति को माँ में देख कर कृतकृत्य हुए हैं। स्वयं मैंने भी माँ की कितनी ही लीला-क्रीड़ाएँ देखी हैं। कितने ही दिनों तक माँ को बच्चे की नाईं देखा है। टहलना, चलना, खाना, पहनना सभी बातों में मानो निरी बच्ची हों। माँ का ऐसा स्वभाव देख कर मेरे मन में आता कि यदि मैं माँ की देखरेख न करूँ तो शायद मां से शरीर की रक्षा ही न हो। सदा ही मां के ऊपर दृष्टि रखनी थी। मैं सोचती थी कि यदि मुझ से थोड़ी भी चूक हो जाय तो संभव है मां कहीं गिर कर चोट न खा जायँ। दो एक बार मां ने इस तरह चोट न खाई हो यह बात भी नहीं है। मां के निकट वे अवश्य ही नगण्य थीं, क्योंकि उनके कारण मां में किसी तरह की भी विकृति नहीं दिखाई देती थी। मां को देख कर मन में विचार आता कि ये सब कुछ सहन करने वाली भूमि माता है। खाने पीने के समय भी वही बात रहती थी। कभी मां को खिलाने बैठती थी, दो एक कौर मुँह में लेते लेते ही वे समाधिस्थ हो जाती थीं। फिर कब समाधि भंग होगी इस प्रतीक्षा में मैं बैठी रहती थी। इसमें दिन रात का कोई नियम नहीं रहता था। सदा ही एक चिन्ता के कारण मैं अपने आहार और निद्रा के लिए भी समय नहीं निकाल पाती थी। रात्रि में मां के कमरे में लेटी रहती। अर्द्धरात्रि के समय मां ने जरा आंखें खोल कर देखा, साथ ही साथ मेरी भी आंखें खुल गईं। इतने में मैं उठ बैठी या खड़ी हो गई। किन्तु इधर अब वैसा नहीं होता। इसीलिए मैं सोचती हूँ उस समय जो वैसा होता था वह केवल इस लीलामयी मां की इच्छा से होता था। उसमें मेरी अपनी कुशलता कुछ न थी। मां केवल यन्त्र की तरह मुझे चला ले

जाती थीं। इस प्रकार माँ के न मालूम कितने भावों की लीलाक्रीड़ाएँ हुई हैं।

इन सब भावों की लीलाक्रीड़ाओं के अतिरिक्त माँ के ज्ञान की ओर जब मैंने दृष्टि डाली तब उसमें भी मुझे कितनी ही विचित्रताएँ दिखलाई दीं ! कितने बड़े-बड़े पण्डितों ने आकर माँ से कितने अच्छे प्रश्न पूछे। मैं तो जानती ही हूँ कि हमारी माँ ब्रह्मरूपिणी हैं, किन्तु फिर भी उन सब पण्डितों के जटिल प्रश्नों को सुन कर मन में आशंका होती कि यदि माँ स्पष्ट रूप से इन सब प्रश्नों का उत्तर नहीं देती हैं तो ये सब पण्डित अपने साथ एक गलत धारणा ले जायेंगे। इसलिए मन ही मन प्रार्थना चलती—"माँ, तुम इन लोगों को सन्तोषजनक उत्तर दे दो जिससे ये गलत धारणा न ले जायँ।" अनेक बार इस प्रार्थना का फल भी देखती थी। माँ इस तरह उन सब जटिल प्रश्नों की मीमांसा कर देतीं कि जिसे सुन कर पण्डित दङ्ग रह जाते थे एवं हमारी अवस्था उनसे भी बढ़चढ़ कर होती थी। और अनेकबार माँ के मुँह से एक अक्षर भी स्पष्टरूप से बाहर नहीं निकलता था। हम लाख प्रार्थना करते फिर भी फल कुछ नहीं होता था। वास्तविक जिज्ञासुओं के भेद से या आधारभेद से ऐसा होता था या नहीं यह कौन बतलावे ? मैं ज्ञानी हूँ यह प्रचार करने के लिए तो माँ बातें करती न थीं। जो बिना बिचारे सभी के लिए ज्ञान की धारा खोल देतीं। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता कि मानो मां महायोगी हैं—योगी की दृष्टि से शिक्षा दे रही हों। और कभी-कभी मां के मुँह से वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रों को पद्यबद्ध रूप में धाराप्रवाह से निकलते हमने सुना है साथ ही साथ विविध प्रकार की आसन मुद्राएँ भी हो गई हैं। श्री मां के इन सब अनन्त (असीम) भाव और रूपों को मैं कैसे सीमित कर दूँ ? आज कल जो लोग मां के सहज सरल भाव से से परिचित हैं वे उपर्युक्त भावों की कल्पना तक नहीं कर सकेंगे।

अस्तु, अब इन सब बातों को छोड़ कर काली-पूजा से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का ही अनुसरण करें। मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि माँ जब काली-मूर्ति के आसन से सट कर बैठीं तब उनके शरीर में अकस्मात् परिवर्तन हो गया। उस मूर्ति को देख कर बाबा भोलानाथ जी तक विस्मित हो गये। वे आसन पर बैठ कर दोनों हाथों से माँ को पुष्पांजलि देने लगे। देखते ही देखते फिर माँ के मुख और नेत्रों का भाव बदल गये। वे आसन पर ही मुख के बल झुक कर इस प्रकार भूमि पर पड़ी रही कि उन्हें देख कर एक कपड़ा भूमि पर इस तरह पड़ा है ऐसा प्रतीत

होता था। भोलानाथ जी ने माँ के इशारे से सब से आँखें बन्द करने के लिए कहा। उनके कथनानुसार सबने नेत्र बन्द कर लिये। माँ ने फिर उसी तरह पड़े पड़े अस्पष्ट शब्दों में कहा—"शुकदेइया से आँखें बन्द करने को कहो, उसने आँखें बन्द नहीं की हैं।" शुकदेइया शाहबाग के एक माली की स्त्री थी। वह पूजास्थान से बहुत दूर एक पेड़ के नीचे खड़ी हो कर ये सब बातें देख रही थी। वह उत्तर भारत की थी, अतएव उसकी समझ में ये सब बातें नहीं आ रही थीं। चारों ओर लोगों की अपार भीड़ लगी थी, उसके बीच में मां मुँह के बल पट होकर पड़े-पड़े ही शुकदेइया देख रही है यह कैसे जान सकी यह मां ही जानें। शुकदेइया से नेत्र बन्द करने के लिए कहने पर उसने नेत्र बन्द कर लिये। कुछ क्षणों के बाद मां के संकेतानुसार फिर सब से नेत्र खोलने के लिये कहा गया। उस समय हम लोगों ने फिर मां की पहले की मूर्ति नहीं देखी। उन्होंने कपड़े यथा स्थान पहन लिये थे और राजराजेश्वरी की मूर्ति में प्रतिमा के पास पूर्ववत् बैठी थीं। भोलानाथ जी पुष्पांजलि द्वारा मां की पूजा करने लगे। पुष्प और बेलपत्रों से आच्छन्न होकर मां ने एक अपूर्व शोभा धारण की।

पूजा समाप्त होने पर हवन आरम्भ करने की बात उठी। मां ने अस्पष्ट स्वर में धीरे से कहा—"आज की इस पूजा में हवन अनावश्यक है" वास्तव में जो पूजा आदि से अन्त तक अलौकिक रूप से सम्पन्न हुई थी उसमें फिर प्रचलित प्रणाली के अनुसार होमादि बाह्य अनुष्ठान के लिए स्थान कहाँ था? किन्तु जिन्होंने उस पूजा का आयोजन किया था उन्होंने पहले से ही होम की व्यवस्था कर रक्खी थी। मां से यह कहा गया, तो मां ने कुछ देर मौन रह कर अपनी तात्कालिक गंभीर मुद्रा को और गम्भीर बना कर कहा—"अच्छा, ऐसी बात है तो हवन आरम्भ करो।"

हवन आरम्भ हुआ। इसी बीच में मां फिर एक अद्भुत भाव में विभोर हो पड़ी रही। जब पूर्णाहुति का समय आया तब उक्त भावावस्था में रहने पर भी मां ने हाथ ऊपर उठाया। सब की दृष्टि उधर आकृष्ट हुई। सब को मालूम हुआ कि मां पूर्णाहुति देने का निषेध कर रही हैं। अतएव पूर्णाहुति नहीं दी गई। अग्नि भी नहीं बुझाई गई। स्थूल दृष्टि में यज्ञ अपूर्ण प्रतीत हो सकता है किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। इससे पहले भी मां की शुभ सन्निधि में किसी पूजादि अनुष्ठान

के होने पर मां कभी कभी अपने भाव में विभोर रह कर उस पूजा के दो एक अंगों को छोड़ देने को कहती एवं अभिज्ञ पण्डित जन भी माँ का आदेश मान लेते थे। हमलोग भी मां इन्हें स्वयं ही पूर्ण कर दे रही हैं ऐसा समझ लेते थे। बहुधा इसका उदाहरण भी हम मां में प्रत्यक्षरूप से देखते थे। कभी कभी मां इन सब बातों को प्रकाश में लाने का निषेध कर देती थीं। यज्ञ में पूर्णाहुति देने का निषेध कर मां ने सावित्री यज्ञ का क्या श्री गणेश नहीं किया यह कौन बतलावे ?

थोड़ी देर बाद माँ उठ बैठीं एवं अग्नि के समीप जाकर उन्होंने हाथ से अग्नि का स्पर्श किया तथा और भी कुछ किया ऐसा प्रतीत हुआ। उक्त पूजा और हवन समाप्त करने में रात प्रायः समाप्त हो चुकी थी। भक्तजन अपने अपने घर चले गये थे। बाबा भोलानाथ जी विश्राम कर रहे थे। श्री माँ के समीप भाई श्री वीरेन्द्र, भाई श्री अटल जी, कमला-कान्त आदि और भी अनेक लोग बैठे थे और मैं भी बैठी थी। इसी समय माँ अकस्मात् बोल उठीं—"एक बर्तन में हवन की अग्नि उठा लाओ तो।" मैं जाकर अग्नि ले आई। माँ बर्तन को हाथ में लेकर बच्चों की तरह उसे नचाने लगीं एवं हँसते हँसते एक अद्‌भुत भावभङ्गी से बोल उठीं "देखती क्या है ? इस यज्ञकी अग्नि को महायज्ञ में लगा दूँगी।" चिररहस्यमयी मां ने कितनी बार क्रीड़ाओं के बहाने जो कितनी ही गम्भीर बातें कह डालीं उन पर मां के भक्तों में से प्रायः किसी का भी ध्यान न जा सका। उस दिन की मां की इस भविष्यवाणी के छिपे हुए अद्‌भुत भविष्य को हम लोगों में से कितने लोग ताड़ सके थे ?

अगले दिन मूर्ति-विसर्जन होने वाला था। ढाका के इनकम टैक्स कमिश्नर श्रीयुक्त निरंजन बाबू की स्त्री के आग्रह से मूर्ति का विसर्जन नहीं हुआ। मूर्ति रख दी गई। अग्निदेव भी रह गये। जिस कमरे में मूर्ति थी उसी में कुछ दिनों तक एक बर्तन में अग्नि की रक्षा की गई थी। उस समय एक आदमी मौन धारण कर अग्नि के पास बैठा जप करता था। तदनन्तर शाहबाग में एक तालाब के किनारे कुण्ड बनाकर अग्नि स्थापित की गई। एक दिन बाबा भोलानाथ जी के साथ उक्त तालाब के किनारे जाकर माँ ने भोलानाथ जी से वट के तीन पत्ते मँगाये। पत्ते लाने पर माँ ने यज्ञाग्नि के कोयले से उन पर कुछ लिखा। क्या लिखा वह माँ ही जानती हैं। लिखने-पढ़ने का झमेला तो माँ को कभी नहीं था फिर भी आवश्यकतानुसार वह कभी-कभी हो जाता था। माँ ने कहा था—"उस दिन तीन पत्तों पर अपने आप ही सुन्दर तथा

स्वाभाविक रूप से लिखा गया (क) ।" हम आज तक न जान सके कि उस दिन पत्तों पर क्या लिखा गया था ? जो हो, माँ ने उन तीन पत्तों को जमीन में गाड़ कर, उनके ऊपर और भी न मालूम क्या-क्या रख कर पीछे उनके ऊपर कुण्ड बनाने को कहा था। वही किया गया था। मूर्ति की कोठरी से यज्ञाग्नि लाकर उस कुण्ड में स्थापित की गई। श्रीयुक्त कुलदा वन्द्योपाध्याय जी को कुछ दिनों तक उस अग्नि में नित्यक्रिया करने की आज्ञा हुई। किस तरह नित्य क्रिया करनी होगी यह माँ ने उन्हें बतला दिया था। उस यज्ञाग्नि में कभी-कभी चरु इत्यादि का पाक होता था एवं कुलदा भाई जी नित्य क्रिया की समाप्ति पर उसे लेते थे। इसके अतिरिक्त मां के लिए भी यदा-कदा उस अग्नि में कुछ पाक किया जाता। मां ने उक्त अग्नि में पका हुआ जो कुछ ग्रहण किया वह सब शास्त्रानुमोदित है यह पीछे मालूम हुआ।

इसी तरह कुछ दिनों तक चला, तदुपरान्त जब ढाका में मां के आश्रम की स्थापना हुई तब अग्निदेव को आश्रम में लाकर स्थापित किया गया और आश्रम के ब्रह्मचारी अग्नि की रक्षा करने लगे।

एक बार मां ने ढाका से बाहर जाते समय ब्रह्मचारियों को बुला कर कहा—"देखो, यदि यह अग्नि साधारण लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाय (तुम लोग इसे तिरोहित देखो) तो तुम लोग इसे इस प्रकार प्रज्वलित करना।" इससे पहले ढाका से रवाना होते समय इस प्रकार की शिक्षा मां ने कभी नहीं दी थी। केवल इसी बार दी थी। मां काक्स बाजार होकर आदिनाथ गईं। एक दिन आदिनाथ के शिव-मन्दिर के पास के एक कमरे में मां पूर्व की ओर सिर करके लेटी थीं; उसी समय अकस्मात् "अग्निदेव, अग्निदेव" बोल उठीं। यह कह कर ही मां ने बतलाया कि अग्निदेव लहर की तरह कैसी टेढ़ी मेढ़ी गति से मां के पैरों की ओर अग्रसर हुए थे। मां बतलाती थीं—"तुम लोगों का इस शरीर के निकट जिस प्रकार आना जाना होता है, अग्निदेव का आविर्भाव भी ठीक उसी तरह जाग्रत्, प्रत्यक्ष और सुन्दर रूप में होता है।" पीछे मालूम हुआ कि जिस समय अग्निदेव मां के निकट प्रादुर्भूत हुए थे ठीक उसी समय ढाका के यज्ञ-कुण्ड के अग्निदेव का भी अन्तर्धान हुआ था। तदुपरान्त ब्रह्मचारियों ने मां के द्वारा निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार अग्नि-

(क) मां के मुख से मैंने सुना कि उक्त लेख हम लोगों की लौकिक भाषा में न था।

देव को पुनः प्रज्वलित किया था। और दूसरी बार मां जब हावड़ा में थीं तब भी एक दिन पूर्वोक्त घटना घटी थी। उस समय वीरेन्द्र भाई आदि मां के साथ थे। उस समय रात्रि के २ या ३ बजे होंगे। मां बैठे-बैठे वीरेन्द्र भाई जी के साथ आध्यात्मिक विषय पर विचार कर रही थीं इसी बीच में अकस्मात् अग्निदेव के प्रकट होने की बात कह उठीं। यद्यपि इस बार भी प्रकाश का रूप पहले के समान था तथापि आकृति दूसरी तरह की थी। पीछे खबर मँगाने पर मालूम हुआ कि उस दिन ठीक उसी समय ढाका के अग्नि-कुण्ड से अग्निदेव का तिरोधान हुआ। इसके बाद भी ब्रह्मचारियों ने पूर्वोक्त रीति से अग्निदेव को जाग्रत् कर कुण्ड में स्थापित किया था। जिस समय ढाका में यह घटना घटी थी ठीक उसी समय अग्निदेव मां के समीप उपस्थित दिखाई दिये थे। इस सम्बन्ध में मां ने एक दिन कहा था—"देखो, कैसा सुन्दर चमत्कार है! जिस अवस्था में अग्निदेव अन्तर्हित होते हैं उस समय अग्निदेव की जैसी आकृति रहती है उसी आकृति में यह शरीर जहाँ रहता है वहीं इस शरीर के सामने आकर उपस्थित होते हैं। जैसे कि तुम लोग आते हो।"

"तुम लोगों के मुख से सुनती हूँ कि ऋषि भी पहले अग्नि की उपासना ही आरम्भ करते थे। अग्नि ब्रह्म का प्रतीक है। तुम लोगों में कुछ लोग अग्नि को ज्ञान का प्रतीक भी कहते हैं। उस एक के ही अनन्त रूप हैं। अनन्त का ही एक रूप है; अनन्त में अन्त, अन्त में अनन्त हैं।"

"फिर यदि सम्प्रदाय कहो, तो सभी सम्प्रदाय तो तुम्हारे हैं। तुम लोगों का अलग से सम्प्रदाय और उपासना कहाँ?"

इसके बाद अग्निदेव को २-३ भागों में बांट कर रक्षा करने की व्यवस्था की गई।

संवत् १९८४ की दीपावली को शाहबाग में जो काली-पूजा हुई थी उसे साधारण काली-पूजा एवं उसमें जो हवन हुआ था उसे साधारण काली-पूजा का हवन समझना बड़ी भूल होगी। कारण कि जो काली-मूर्ति श्री माँ के निकट प्रकट हुई थीं वे महाकाल के वक्षःस्थल में विलास करनेवाली, नृत्यप्रिया, घोर कृष्णवर्णा, कराल मुख वाली काली नहीं थीं; वे थीं श्री माँ की गोद में बैठने की अभिलाषा करनेवाली, स्नेह चाहनेवाली, आकाशगामिनी श्यामा। ढाका के आश्रम में जब अन्नपूर्णा की मूर्ति की स्थापना हुई तब यही काली-मूर्ति अन्नपूर्णा की बगल में स्थापित की गई एवं ये सब मूर्तियां अब काशी के आश्रम में पूजी जा रही हैं।

और इस काली-पूजा के समय जो होमाग्नि प्रज्वलित हुई थी उसे भी केवल इस पूजा की विशिष्ट होमाग्नि समझना निष्कारण है, क्योंकि इस अग्नि का व्यापक प्रभाव देख कर ही माँ ने बहुत वर्षों के बाद एक दिन कहा था कि इस अग्नि से केवल सावित्री यज्ञ ही क्यों, विष्णुयज्ञ रुद्रयज्ञ आदि प्रत्येक यज्ञ हो सकते हैं। दूसरे किसी दिन इस अग्नि के नामकरण को लेकर जिस समय सावित्री यज्ञ के आचार्य श्री बटुक भाई जी के साथ चर्चा चल रही थी उस समय माँ ने हँसते हँसते कहा था—"तुम लोग इस अग्नि का जो नाम रक्खोगे वही इसका नाम होगा। पर इसको 'विश्वरूप' भी तो कह सकते हो।" माँ की यह बात सुन कर बटुक भाई विस्मित होकर बोले—"माँ, शास्त्र में भी मैंने अग्नि का 'विश्वरूप' भी एक नाम देखा है। आपकी बातें सुन कर मैं दंग रह जाता हूँ। आपकी सभी बातें शास्त्र-सम्मत होती हैं। मैंने आपके मुख से एक बात भी शास्त्र-विरुद्ध नहीं सुनी। शास्त्र के राशि राशि विषयों को निर्दिष्टरूप से बार-बार आपके श्रीमुख से सुन कर मैं वास्तव में स्तम्भित हो जाता हूँ।"

२५ वर्ष पहले एक काली-पूजा के लिए जो अग्नि प्रकट हुई वही सावित्री महायज्ञ की अग्नि है। इस सम्बन्ध में इस समय हमें और सन्देह करने की आवश्यकता नहीं थीं, क्योंकि माँ ने स्वयं कहा था कि इस अग्नि को एक महायज्ञ में लगा दूँगी अतएव हम कह सकते हैं कि बीज-रूप में इस महायज्ञ का जन्म उसी समय हो चुका था। फिर भी यह स्मरण रखना होगा कि वह बीजमात्र था, वृक्ष नहीं। उस समय उस बीज को देख कर सावित्री यज्ञरूप विशाल वृक्ष ने अपने को इस बीज में छिपा रक्खा है यह समझना हममें से किसी के लिए भी सम्भव नहीं था, धीरे-धीरे किस तरह इस बीज से अंकुर आदि उगे थे और पूर्ण वृक्ष के रूप में इसका प्रादुर्भाव हुआ था, वहाँ पर मैं उसीका उल्लेख कर रही हूँ।

यह बात आज से लगभग १० वर्ष पहले की है, उस समय माँ विन्ध्याचल आश्रम में थीं। एक दिन वह श्रीयुक्त महेश भट्टाचार्य जी के "भजनालय" में बैठी थीं। इसी बीच एक सज्जन माँ के दर्शन करने आये। उनका नाम श्रीयुक्त महादेव मालवीय था। उन्होंने अत्यन्त आग्रह के साथ अनुमय-विनय कर माँ से कहा—"माँ, आप सावित्री महायज्ञ क्यों

नहीं करती ? आप में तो सामर्थ्य है।" जिस समय की बात मैं कह रही हूं उस समय विन्ध्याचल के आश्रम में नित्य नियमितरूप से गायत्री होम हो रहा था। ढाका के आश्रम से हवनाग्नि का कुछ भाग लाकर वहां स्थापित किया गया था। एवं उसी अग्नि में उस समय नित्य होम हो था। अस्तु, मालवीय जी के बार-बार प्रार्थना करने पर भी मां कुछ उत्तर नहीं दे रही थी। मालवीय जी भी मां से कुछ उत्तर पाये बिना हटने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनके अत्यन्त आग्रह करने से मां ने मुस्कराकर कहा—"यज्ञेश्वर का यदि विशेषरूप से आविर्भाव होनेवाला होगा तो वह भी होगा।" मां का यह उत्तर पाकर उक्त सज्जन चले गये। उनके चलते समय मां ने मुझसे उनका नाम, पता एवं उस दिन की तारीख लिख लेने को कहा। बाहर से यज्ञ के लिए यही एक अनुरोध पहले पहल प्राप्त हुआ। ये सज्जन हम लोगों के लिए सर्वथा अपरिचित थे। यज्ञ के संबन्ध में उनकी तीव्र उत्कण्ठा हमसे छिपी नहीं थी, किन्तु वे कौन थे एवं किस उद्देश्य से एक यज्ञ करने के लिए उन्होंने मां से इतना अनुरोध किया था, केवल यही हम नहीं जान सके। फिर मजा यह कि इस समय जब कि बहुत वर्षों के बाद काशी के आश्रम में सचमुच सावित्री यज्ञ आरम्भ हुआ उसके ठीक पहले मां ने एक दिन कुतूहल से कहा था, "वह आदमी जो पता दे गया था. यदि तुम से हो सके तो एक बार उसकी खोज कर देखो।" हमारे आदमियों ने जाकर पते के अनुसार कोना कोना छान डाला किन्तु उक्त महादेव मालवीय का कुछ पता नहीं चला, इसी कारण बहुधा मन में विचार उठता कि वे सज्जन कौन थे और किसकी प्रेरणा से विन्ध्याचलवासिनी मां के निकट आये थे एवं सर्वप्रथम इस भावी यज्ञ का सन्देश लाये थे।

उसके बाद संभवतः सन् १९४४ के आरम्भ की बात होगी, काशी आश्रम के लिए भूमि खरीदी दी गई थी। स्वामी करपात्री जी ने अस्सी घाट के निकट एक विराट् यत्र आरम्भ कर दिया, मां उस यज्ञ को देखने के लिए काशी आईं एवं किराए की नौका कर कई दिन गङ्गा के ऊपर रहीं। एक दिन रात को स्वामी परमानन्द, नेपाल ब्रह्मचारी, साधन ब्रह्मचारी आदि मां के पास बैठे थे, विविध प्रकार की चर्चाएँ हो रही थीं, इसी बीच साधन ब्रह्मचारी ने अत्यन्त आग्रह के साथ मां से कहा "मां, हमें एक यज्ञ करना चाहिये।" उसकी बात सुन कर नेपाल ब्रह्मचारी बोल उठे "यदि यज्ञ हो तो मैं आजीवन उस यज्ञ में लगा रह सकता

हूँ।"[1] इन लोगों की ये सब बातें सुन कर मां ने हम लोगों से विन्ध्याचल में हुई महादेव मालवीय की बात कही एवं महादेव मालवीय से जो कहा उसी को दोहरा कर बोलीं—"देखो यज्ञेश्वर की क्या इच्छा है।"

इस प्रसंग से विन्ध्याचल की एक दूसरी घटना की बात याद आ रही है। उसका भी किसी न किसी रूप में यज्ञ के साथ सम्बन्ध जानकर यहां पर मैं उसका उल्लेख कर रही हूँ। विंध्याचल आश्रम के निकट एक बहुत विशाल आमका पेड़ था। वह अपनी डालियों और टहनियों को चारों ओर छत्राकार फैलाकर प्रायः सबकी दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करता था। प्रायः मां भक्तजनों के साथ उसके नीचे जाकर बैठतीं एवं नाना प्रकार के सत्संग करती थीं। कभी कभी मां अपने भाव में विभोर होकर अकेली ही उसके नीचे लेट कर या बैठ कर समय बिताती थीं। एक दिन मां कई भक्तों के साथ उस पेड़ के नीचे से घूमने जा रही थीं इसी समय स्वा० प्रवुद्धानन्द जी ने पेड़ से तथा पेड़ के नीचे से कुछ कच्चे आम बीन लाकर कहा "इनकी मां के लिये चटनी बनाना। मैं भी प्रसाद पाऊँगा।" यह सुन कर मां बोलीं "साधु का बीना हुआ और गिराया हुआ आम, अच्छा ऐसा ही हो।" यह कह कर मां पेड़ की ओर कुछ देर तक ताकती रहीं। मां के मुख से एक बार मैंने सुना था कि महापुरुष भी प्रायः वृक्षरूप धारण कर रहते हैं। मां को इस प्रकार पेड़ की ओर निहारती देखकर मेरे मन में आया कि क्या यह पेड़ भी कोई महापुरुष तो नहीं है, शायद इसलिए मां इसे इस प्रकार देख रही हैं। दूसरी बार जब हम फिर मां के साथ विन्ध्याचल लौट कर गये तब हमने उसे भूमि पर पड़ा पाया। उसका तना भीतर से खोखला होकर फट गया था। जीवितावस्था में वह जिस तरह छत्राकार खड़ा था धराशायी होकर भी उसने उसी तरह अपनी डालियां छत्राकार फैला रक्खी थीं। तने के अन्दर एक दम खोखला था। महापुरुषों की आत्मा जैसे ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर महाप्रस्थान करती है वैसे ही ब्रह्मरन्ध्ररूपी तने को भेद कर उसकी

---

१. यथार्थ में वैसा ही हुआ था। यज्ञ आरम्भ होने पर ये भाई नेपाल ब्रह्मचारी जो नाना प्रकार की विघ्नबाधाओं की कोई परवाह न कर यजमान के रूप में तीन वर्ष तक इस यज्ञ को चला ले गये। यज्ञ की समाप्ति पर पूर्णाहुति के बाद जो अग्नि रख ली गई थी उसमें विरजा होम कर उसी होमाग्नि में अपनी आहुति देकर अब उन्होंने नारायणानन्द तीर्थ स्वामी के रूप में नूतन जन्म ग्रहण किया है।

आत्मा भी बाहर निकल गई थी। लेकिन वृक्ष देखने में भला चंगा और मजबूत था एवं उसका ऐसा अवसान हो सकता हैं ऐसी हममें से कोई कभी कल्पना तक नहीं कर सका था। कुछ लोग उसे वृक्षरूपी महापुरुष समझते थे। उसका ख्याल था वह केवल मां की कृपादृष्टि की प्रतीक्षा में अब तक यहां पर एक पैर से खड़ा होकर तपस्या कर रहा था एवं मां की कृपादृष्टि पाते ही कृतकृत्य होकर किसी ऊर्ध्व लोक को चला गया। मां ने गिरे हुए पेड़ के प्रति समादर व्यक्त किया एवं यह देख कर हम सब लोगों ने पेड़ को प्रणाम किया। मां ने हम लोगों से कहा "इस पेड़ से सूखा काठ का टुकड़ा रख दो।" किस लिए मां ने वैसा करने को कहा इसका उस वक्त हमें कुछ भी परिज्ञान नहीं हुआ। ब्रह्मचारी कमलाकान्त ने उस पेड़ से थोड़ी सी लकड़ियां बटोर कर रख दी और स्वामी अखण्डानन्दजी ने विन्ध्याचल आश्रम में नित्य होम करने के लिए सारा पेड़ खरीद कर रख लिया। इस घटना के कई वर्ष वाद जब काशी में सावित्री यज्ञ आरम्भ हुआ था तब कमलाकान्त द्वारा बटोर कर रक्खी हुई आम की लकड़ियों की सहायता से ही यज्ञ की अग्निज्वाला सर्वप्रथम देदीप्यमान हुई थी। इसी से प्रतीत होता है कि वह वृक्ष कोई साधारण वृक्ष नहीं था।

इन सब घटनाओं के बाद यज्ञ करने के सम्बन्ध में दूसरा नूतन अनुरोध प्राप्त हुआ—श्री योगेश ब्रह्मचारी से (जो द्विदलानन्द के नाम से परिचित हैं)। सन् १९४६ में नोआखाली के हिन्दुओं विशेष कर हिन्दू रमणियों पर मुसलमानोंके अमानुषिक तथा अकथनीय अत्याचार अपनी आंखों से देखकर उन्होंने उक्त अत्याचार से हिन्दुओं की रक्षा करने की चेष्टा की, मुसलमानों ने उनका दण्ड तोड़ डाला। वे क्षोभ से, दुख से और अपमान से दूसरा दण्ड लिये बिना ही काशी चले आये। मां ने सान्त्वना देकर पुनः दण्ड लेने के लिए उनसे अनुरोध किया तब जाकर उन्होंने काशी के आश्रम में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रायश्चित्त कर पुनः दण्ड ग्रहण किया था। इस अवसर पर उन्होंने भी ब्रह्मचारियों के द्वारा भली भांति विधि-विधान से एक यज्ञ कराने के लिये मां से अत्यन्त अनुरोध किया।

इस समय तक ढाका में जिस अग्नि की रक्षा हो रही थी एवं जिसे एक दिन महायज्ञ में लगा दूंगी ऐसी मां ने कहा था वह बात मैं भी एक दम भूली न थी। इसीलिए बीच बीच में मैं भी मां से कहती "मां, तुमने जिस महायज्ञ की बात कही थी उसके होने में अब कितना विलम्ब है ?
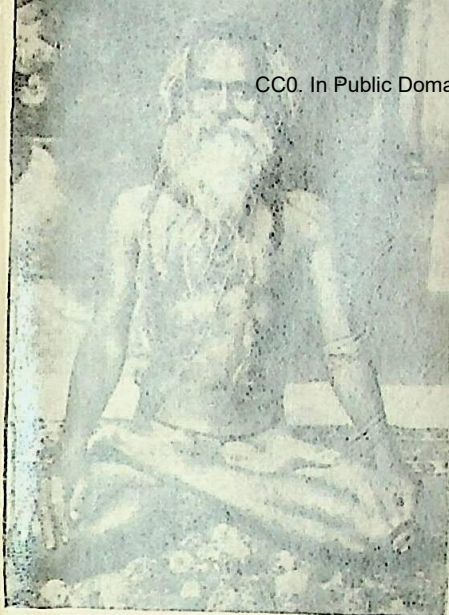
श्री १०८ स्वामी तिव्वतानन्द तीर्थजी
महाराज (बाबा भोलानाथ)

श्री १०८ स्वामी मुक्तानन्द गिरिजी
महाराज (दिदिमा)

श्री १०८ स्वामी मौनानन्द
पर्वतजी महाराज (भाइजी)
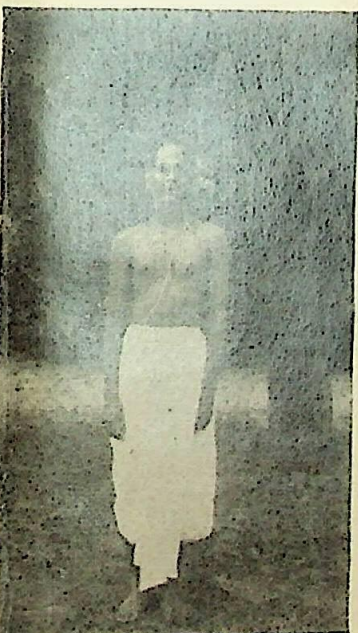
श्री १०८ स्वामी अखण्डानन्द गिरिजी
महाराज

काफी दिन तो बीत चुके हैं।" मां मेरी ये बातें सुन कर कुछ उत्तर नहीं देती थीं। पीछे जब एक यज्ञ करने के लिए अप्रत्याशित रूप से कई लोगों की प्रार्थनाएँ मां के पास आने लगीं तब एक दिन मां ने मुझसे कहा था "बिटिया,[1] देख, तुम बीच बीच में जिस यज्ञ की चर्चा करती हो न उसी का पूर्वाभास इन सब लोगों के अन्दर से आ रहा रहा है।" श्री माँ के मुख से यह सुनकर मेरे मन में आया कि यज्ञ का स्वप्न मैं आज तक देख रही थी, उसके प्रत्यक्ष होने का समय मालूम होता है अब आ गया है। जिस वर्ष यज्ञ आरम्भ हुआ है उसके एक वर्ष पूर्व ही यह यज्ञ करने का प्रस्ताव हम लोगों के बीच उठा था, किन्तु कुछ लोगों ने यह आपत्ति खड़ी की कि पर्याप्त धन और योग्य कार्यकर्त्ताओं का पहले संग्रह किये बिना इस प्रकार के महान् कार्यों में हाथ डालना उचित नहीं है। फलतः उक्त प्रस्ताव अपनी शैशवावस्था में ही विनष्ट हो गया। इतने दिनों के बाद मां के श्रीमुख से मनोवांछित वाणी सुनकर मैंने मन ही मन निश्चय किया था कि इस बार यह यज्ञ आरम्भ करने में मैं प्राणप्रण से प्रयत्न करूंगी। उसके बाद मां की जो इच्छा होगी वही होगा।

इसी बीच हम लोग एक बार इलाहाबाद "कृष्ण कुञ्ज" में कुछ दिनों के लिए गये थे। इस कुञ्ज के मालिक श्री कन्हैयालाल जी का मां के भक्तों में विशिष्ट स्थान है। उन दिनों वे विन्ध्याचल के पास एक बहुत बड़ा ढाक का वन खरीद कर लकड़ी का व्यापार कर रहे थे। वहां पर यज्ञ की चर्चा छिड़ने पर कन्हैयालाल जी ने कहा था कि यज्ञ यदि आरम्भ हुआ तो उसमें जितनी भी लकड़ी की आवश्यकता होगी उसकी व्यवस्था मैं अकेले ही कर सकूंगा। विविध विघ्नों के कारण कार्यतः समय पर वे केवल एक ट्रक लकड़ी लेने में समर्थ हुए थे तथा लकड़ियों के लिए पीछे उन्होंने कुछ रुपये भी दिये थे। अस्तु यज्ञ की लकड़ियों के सम्बन्ध में उनकी आश्वासनपूर्ण वाणी ने मुझे इस बार यज्ञ करने के लिए अत्यन्त प्रोत्साहित किया था। यह बात सन् १९४६ के अन्त की है।

उसके बाद ही हम लोगों का काशी आना हुआ। कई योग्यतम कार्य-कर्त्ताओं तथा मां के भक्तों के साथ फिर यज्ञ के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी। इस बार उन लोगों ने किसी प्रकार की विघ्नबाधा उपस्थित नहीं की।

---

१. 'खुकुनी' का अनुवाद है। खुकुनी प्रस्तुत प्रमव लेखिका का प्रायः नाम सा हो गया है।

इसके अतिरिक्त मैंने भी एक संकल्प कर लिया था कि जैसे भी हो शीघ्र ही यज्ञारंभ करना ही होगा। हम लोगों ने परामर्श कर निश्चय किया कि संवत् २००३ की पौष संक्रान्ति को (दिनांक १४-१-४७ को) यज्ञारम्भ किया जायगा। आहुतियां कितनी पड़ेंगी यह प्रश्न उठने पर मां ने हम लोगों से पूछा "क्या एक करोड़ आहुतियां हो सकेंगी ?" श्री मां के श्रीमुख से 'एक करोड़' शब्द निकला था, अतएव हमने भी निश्चय किया कि एक करोड़ आहुतियां का संकल्प लेकर ही यह यज्ञ आरंभ करेंगे। यज्ञ करना निश्चित हो गया एवं उसके आरंभ का दिन भी ठीक कर लिया गया। बस, इतना ही। एक करोड़ आहुतियां पूरी करना कोई खिलवाड़ न था। उसके लिए विपुल धन की आवश्यकता थी। पास में पूँजी कुछ भी नहीं थी, समय भी बहुत थोड़ा रह गया था। फिर भी आगे पीछे का कुछ विचार न कर इस विराट् कार्य में हम कूद पड़े। मां ने इस समय हंसते हँसते मुझसे कहा था "तू तो समुद्र में कूद पड़ी है, इस साहस का कोई ठिकाना है।" मैंने भी उस समय उत्तर दिया था "मुझे तुम्हारे चरणों का ही एकमात्र भरोसा है।" इसी समय कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ की निम्नलिखित वाक्यावली का मुझे स्मरण हो उठा—

"अपनी पताका जिसे दो उसे उसके रक्षण की शक्ति दो,
अपनी सेवा के महान् प्रयास को सहने की भक्ति दो"

इन सब बातों का चिन्तन करते करते मेरे नेत्र सजल हो उठे थे।

(२)

उद्योग पर्व

यज्ञ करना तो निश्चित हुआ, अब यज्ञ आरम्भ के आयोजन में तत्पर होना था। सर्वप्रथम यज्ञशाला और यज्ञ-कुण्ड तैयार करने की आवश्यकता थी। इस कार्य के लिए श्री मां की कृपा से, श्रीयुक्त मनो-मोहन घोष मिल गये। ये ढाका विश्वविद्यालय के स्टूअर्ड इञ्जिनियर तथा मां के एक विशिष्ट भक्त हैं। जिस समय का वृत्तान्त मैं लिख रही हूँ उस समय ढाका में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हो रहा था। उस दंगे के कारण भाई मनोमोहन जी ने अपने परिवार के लोगों को काशी

श्रीश्री मा
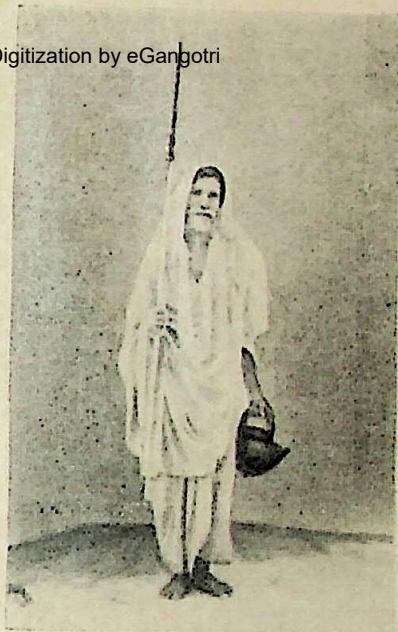
स्वामी नारायणानन्द तीर्थ
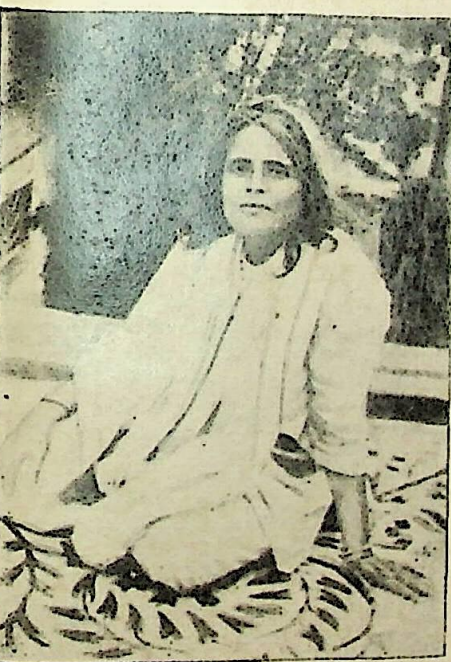
श्री गुरुप्रिया देवी (दिदि)
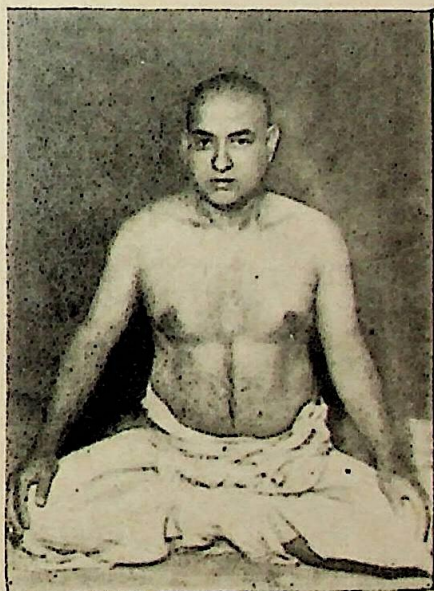
स्वामी परमानन्दजी

पहुँचा दिया था। पीछे स्वयं भी एक महीने की छुट्टी लेकर काशी आये थे। उनसे यज्ञशाला और यज्ञ-कुण्ड का निर्माण कराने के लिए प्रार्थना की गई, वे इसके लिए सहर्ष सहमत हो गये। इस समय हम कुण्ड कहां बनाया जाय इसके सम्बन्ध में माँ के संकेत की प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु मां से इस विषय में हमें कोई संकेत नहीं मिल रहा था। इन सब विषयों में मां का स्पष्ट संकेत पाना कठिन है यह तो हमें मालूम ही था, फिर भी आशा में रहे। इस प्रकार के विराट् कार्य में अपनी बुद्धि-विवेचना के ऊपर निर्भर होकर आगे बढ़ने का साहस हमें नहीं हुआ। इतने में मां विन्ध्याचल से लौट आईं। मैंने मां से यज्ञ-कुण्ड दिखा देने के लिए अनुरोध किया, किन्तु कुछ उत्तर नहीं मिला। एक दिन मां अपने आप ही आश्रम के आंगन में घूमते घूमते एक जगह जाकर खड़ी हो गई। मेरे मन में आया कि यज्ञ कुण्ड कहां बनेगा यही मालूम होता है मां ने संकेत द्वारा बतला दिया है। पीछे भाई मनोमोहन जी के साथ परामर्श करने पर मालूम हुआ कि कुण्ड-निर्माण के लिए यही स्थान सर्वोत्तम है। उसके अतिरिक्त इस स्थान के सम्बन्ध में और भी जो मैंने सुना है उसका यहां पर उल्लेख कर रही हूँ।

काशी आश्रम के लिए खरीदी गई जमीन की जिस समय रजिस्ट्री की गई उस समय मां अलमोड़ा थीं। मां ने उस दिन वहीं से आश्रम की इस भूमि के ऊपर १०।१२ सूक्ष्म शरीरधारी पुरुषों को एक जगह खड़े हो घूम-घूम कर नाचते देखा था। उनका शरीर देखने में लगता था कि मानों वह चन्द्रमा की किरणों से गढ़ा हो। उनकी मूर्ति एकदम दिगम्बर थी, बच्चों का सा सरल स्वभाव था और नेत्र भाव में विभोर थे। एक अद्‌भुत भोले भाव में तल्लीन होकर वे सब ज्योतिर्मय पुरुप अपनी अपनी जगह पर खड़े हो नृत्य कर रहे थे और साथ ही शंख-घंटों की ध्वनि भी हो रही थी। मां ने बतलाया था, "उनके रूप और भाव का भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।" वे महापुरुष कौन थे यह केवल मां ही जानती हैं। अस्तु, जिस स्थान पर मां ने इन सब महापुरुषों को नृत्य करते देखा था आगे चलकर वहीं पर यज्ञशाला और यज्ञ-कुण्ड का निर्माण हुआ।

इसके बाद मां के काशी आने पर मेरी इच्छा हुई कि मां को उस जमीन पर ले जाकर मां का श्री चरण स्पर्श करा लाऊँ। उसी के उपलक्ष्य में वहां मैंने कीर्तन की भी व्यवस्था की थी। मां ने जब यह सुना कि मुझे उस जमीन में जाना होगा तब उन्होंने भाई नेपाल

ब्रह्मचारी जी को गुप्त रूप से बुलाकर कहा, "अच्छा, काशी में आश्रम के लिए तुम लोगों की जगह हुई है, देखो तो वहां पर कोटि होम का कुण्ड बन सके ऐसा प्रशस्त स्थान है या नहीं। यदि हो तो तुम चूने से उस जगह पर चिह्न कर देना और चिह्न के चारों कोनों में चार ईंटे रख रख देना एवं उसके ऊपर दरी बिछा देना। ऐसा करने से और किसी को पता नहीं लग सकेगा। यदि तुम चूने के चिह्न के चारों ओर घूम आओगे तो मैं जान जाऊँगी।" वैसा ही किया गया। भाई नेपाल जी का विश्वास है कि जहां पर चूने से चिह्न किया गया था वहीं पर यज्ञशाला का निर्माण हुआ। मां ने भाई नेपाल जी से जो बातें कही थीं उनका हमें कुछ भी पता न था। मैंने श्री मां में एक विशेषता देखी हैं वह यह कि यदि उन्हें कोई विशेष काम कराना होता है तो जिसके द्वारा वह काम हो सकनेवाला हो केवल उसी के प्रति उसे प्रकट करती हैं। जब वह कार्य सिद्ध हो जाता है तभी और लोगों को उसका पता चलता है। जिस समय भाई नेपाल जी से ये बातें कही गईं थीं उस समय काशी में यज्ञ करने की कोई चर्चा ही न थी। इसीलिये मुझे प्रतीत होता है कि इस विराट् महायज्ञ का पहले से ही निश्चय हो चुका था। हम लोग तो उसमें केवल निमित्त मात्र हुए।

यज्ञ-स्थान का निर्देश होने के उपरान्त भाई श्रीमनोमोहन जी बड़ी तत्परता के साथ यज्ञशाला और यज्ञकुण्ड के निर्माण में जुट गये। उस समय भाई मनोमोहन जी का निवास स्थान आश्रम से बहुत दूर, मान-मन्दिर के निकट था। वे प्रातःकाल अपने डेरे से आश्रम में चले आते एवं दिन भर कारीगरों के साथ रह कर यज्ञशाला एवं यज्ञकुण्ड का काम देखते थे। सन्ध्या होने पर फिर अपने डेरे को वापस चले जाते थे। दिन पर दिन वे इसी प्रकार अथक परिश्रम करते गये। इस कार्य की सर्वाङ्ग सुन्दर तथा निर्दोष रूप से समाप्ति करना ही मानो उनकी केवल एकान्त तपस्या थी। उन्हें निरन्तर एकाग्ररूप से काम पर जुटे रहते देख कर स्वामी शङ्करानन्द जी ने एक दिन उनसे कहा था—"मनोमोहन बाबू, जैसे आप एकाग्रता से इस यज्ञशाला के निर्माण कार्य में व्यस्त रहते हैं वैसे यदि कोई भगवान को पाने के लिए तपस्या कर सकता तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि उसकी अभिलाषा अवश्य पूरी हो जाती।" यथार्थ में उनके मनोयोग के कारण ही यज्ञशाला और यज्ञकुंड शास्त्रीय विधि के अनुसार सर्वथा निर्दोष बन सके थे। यहाँ तक कि श्री मां ने उस यज्ञकुंड को देख कर कहा था, "इस प्रकार का सर्वाङ्ग सुन्दर

और निर्दोष यज्ञकुंड शायद ही कहीं दृष्टिगोचर होता हो।" किन्तु ये सब काम आधे भी नहीं हो पाये थे कि भाई मनोमोहन जी की छुट्टी समाप्त हो गई, वे ढाका वापस जाने की तैयारी करने लगे। मुझे चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा। यज्ञ के आरम्भ का दिन भी बहुत दूर न था। ऐसी अवस्था में यदि यज्ञशाला अधूरी रह गई तो फिर निर्दिष्ट समय पर यज्ञारम्भ की सम्भावना ही कहाँ रही। किसी दूसरे आदमी से यह काम नहीं हो सकता यह मैं अच्छी तरह जानती थी। ये सब बातें मैंने आँखों में आंसू भर कर भाई श्री मनोमोहन जी से कहीं। मेरे कहने पर उन्होंने आगे पीछे का कुछ विचार न कर उसी दिन अपनी छुट्टी एक मास और बढ़ा देने के लिए ढाका को टेलीग्राम कर दिया। मैंने भी सुख की सांस लेकर छुट्टी पाई। भाई श्री मनोमोहन जी और एक मास रह कर यज्ञशाला और कुण्ड का काम पूरा कर गये। केवल यज्ञशाला को छाना बाकी रह गया।

समय की कमी के कारण यज्ञशाला के ऊपर छप्पर न देकर एस्बेस्टेस् से छाने का निश्चय हुआ। इसके लिए मैं एक बार कलकत्ता जा कर बैरिस्टर श्रीयुक्त एन० आर० दास जी से कुछ एस्बेस्टेस् सीटों का अपने लिए प्रबन्ध करा देने का अनुरोध कर आई थी। उन्होंने भी मेरा अनुरोध स्वीकार कर एक इञ्जिनियर से उनका संग्रह कर देने के लिए कहा था। उस समय बाजारों में ये वस्तुएँ प्रायः दुष्प्राप्य थीं। इधर यज्ञशाला का निर्माण कार्य प्रायः समाप्त हो चुका था। यज्ञ के आरम्भ में भी कोई विशेष विलम्ब न था। किन्तु तब तक एस्बेस्टेस् सीटों की कुछ खबर नहीं मिली। सम्भवतः उनका उस समय तक भी संग्रह नहीं हुआ था। मैंने चिट्ठी पत्री में और बिलम्ब न कर स्वयं कलकत्ते जाने का निश्चय किया। उस समय चित्त इतना व्यग्र था कि कलकत्ते जाकर वहाँ से उन वस्तुओं को लाकर समय पर यज्ञशाला तैयार की जा सकेगी या नहीं यह विचार भी मैं न कर सकी। मैं तुरन्त कलकत्ता रवाना हो गई। गाड़ी के मोगलसराय पहुँचने पर ऊपर की सीट पर लेटे-लेटे मैंने सुना कि एक रेलवे का कर्मचारी गुरुप्रिया देवी कौन है इसकी खोज में घूम रहा है एवं घूमते घूमते वह मैं जिस डिब्बे में बैठी थी उसके सामने आ खड़ा हुआ। उसे मेरा परिचय देने पर उसने कहा— "काशी से फोन आया है कि आप जिस काम के लिए कलकत्ता जा रही हैं अब उसकी आवश्यकता नहीं है। आप काशी लौट आवें।" मैंने सोचा यह क्या है। पर करती क्या? काशी लौट आई। काशी आने

पर मुझे मालूम हुआ कि मेरे कलकत्ते को रवाना होने पर श्री पटल (सत्येन्द्रनाथ वसु) ने आश्रम में आकर जब मैं एस्बेस्टेस् सीटों का प्रबन्ध करने के लिए कलकत्ते को रवाना हो गई यह सुना तब उन्होंने कहा—"इसके लिए दीदी को कलकत्ता जाने का कष्ट करने की क्या जरूरत थी ? मुझ से कहा होता मैं यहीं से दीदी को दे सकता था।" यह कह कर उन्होंने तुरन्त फोन कर पूर्वोक्त रीति से मेरी कलकत्ता यात्रा रोक दी। श्री पटल स्थानीय एक विद्यालय के सेक्रेटरी हैं। उस विद्यालय के काम के लिए कुछ एस्बेटेस् सीटें खरीदी गई थीं। श्री पटल ने कहा—"उन्हें यज्ञशाला के काम में लगा लीजिये और कलकत्ता से जब आपकी सीटें आ जायंगी तब वे स्कूल के काम में लगा दी जायंगी।" वैसा ही किया गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि कलकत्ते से उन्हें लाकर यज्ञारंभ के पूर्व यज्ञशाला का काम पूरा करने की कथमपि संभावना न थी। श्री मां सदा ही कहती रहती हैं कि जो होने वाला होता है वह इस प्रकार के योगायोग से निष्पन्न हो जाता है।

यहां पर यज्ञशाला और कुण्ड का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। यज्ञशाला लम्बाई-चौड़ाई में सोलह हाथ चौकोर मण्डप के रूप में बनी थी एवं उसके मध्य में कुण्ड बना था। उसकी लम्बाई-चौड़ाई दस हाथ थी। यहां पर जो हाथ दिया गया है उसकी माप निम्न निर्दिष्ट रीति से निश्चित की गई थी। भाई ब्रह्मचारी श्री नेपाल जी को, जिनका इस यज्ञ में यजमान के रूप में वरण हुआ था, पैर के अंगूठे के ऊपर खड़ा कराकर उनकी दाहिनी बांह को ऊपर फैला कर जो लम्बाई हुई उसका एक पञ्चमांश एक हाथ माना गया। यथार्थ में देखा गया तो यह एक पञ्चमांश ही भाई नेपाल जी और श्री मां के हाथ के हूबहू बराबर निकला।

यज्ञशाला के बीच में जो कुण्ड बनाया गया था वह भी चौकोर था एवं उसमें तीन अन्तर्मेखलाएँ, कण्ठनाभि और योनिपीठ थे। इस कुण्ड के विभिन्न भागों की नाप भी शास्त्रीय विधि के अनुसार रक्खी गई थी। यज्ञशाला की समतल भूमि से कुण्ड की ऊँचाई १५ अंगुल थी। कुण्ड के चारों कोनों पर आठ हाथ ऊँचे त्रिवलीयुक्त चार खम्भे थे। उनके अधिदेवता थे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र। इन चारों खम्भों के चारों ओर पांच हाथ ऊँचे बारह और खम्भे थे, जिनके अधिदेवता थे—सूर्य, गणेश, यम, शेष, स्कन्द, वायु, सोम, वरुण, अष्ट वसु, धनद, वृहस्पति और विश्वकर्मा। इनके अतिरिक्त यज्ञशाला के कोणयुक्त चार

द्वार थे जिनमें चारों ओर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और त्रिशूल अंकित थे। उन सब द्वारों के अधिपति थे ध्रुव, धरा, वाक्पति और विघ्नेश। चारों तोरण विभिन्न काठों के बने थे। कोई अश्वत्थ का था तो कोई उदुम्बर का, कोई प्लक्ष का था तो कोई वट का, एवं उनके अधिदेवता थे सुदृढ़, विकट, सुभीम और सुप्रभ। चारों तोरणों में चार कलश स्थापित किये गये थे, जिनमें ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद की पूजा होती थी। शास्त्रीय विधि के अनुसार यजमान पश्चिम द्वार से यज्ञशाला में प्रवेश करते थे। आचार्य और ऋत्विग्गण पूर्व द्वार से प्रवेश करते थे। हवन सामग्री भी पूर्व द्वार से लाई जाती थी, पूजा तथा दान की वस्तुएँ उत्तर द्वार से आती थीं। होम-समाप्ति होने के बाद होता लोग पूर्व द्वार से बाहर जाते थे।

यज्ञशाला के अन्दर कुण्ड के सिवा चार कोनों पर चार वेदियां बनाई गई थीं। वे भिन्न भिन्न देवताओं के लिए आसन थीं। अग्निकोण की वेदी पर गणेश, षोडश मातृका (क) तथा वसुधारा का आसन था। नैऋत्य कोण पर पैंतालीस वास्तु देवताओं के (ख) आसन थे। वायुकोण पर चौसठ योगिनियों (ग) तथा उनचास क्षेत्रपालों (घ) के आसन थे।

(क) षोडश मातृका—१ गौरी, २ पद्मा, ३ शची, ४ मेधा, ५ सावित्री, ६ विजया, ७ जया, ८ देवसेना, ९ स्वधा. १० स्वाहा, ११ शान्ति, १२ पुष्टि, १३ धृति, १४ तुष्टि, १५ आत्मदेवता, १६ कुलदेवता।

(ख) वास्तुदेवता—१ शिखी, २ पर्जन्य, ३ जयन्त, ४ कुलिशायुध, ५ सूर्य, ६ सत्य, ७ भृश, ८ आकाश, ९ वायु, १० पूषा, ११ वितथ, १२ गृहक्षत, १३ यम, १४ गन्धर्व, १५, भृङ्गराज, १६ मृग, १७ पितर, १८ दौवारिक, १९ सुग्रीव, २० पुष्पदन्त, २१ वरुण, २२ असुर, २३ शेष, २४ पाप, २५ रोग, २६ अहि, ३७ मुख्य, २८ भल्लाट, २९ सोम, ३० सर्प, ३१ अदिति, ३२ दिति, ३३ ब्रह्मा, ३४ अर्यमा, ३५ विवस्वान्, ३६ मित्र ३७ पृथिवीधर, ३८ सावित्री, ३९ सविता, ४० विबुधाधिप, ४१ जय, ४२ राजयक्ष्मा, ४३ रुद्र, ४४ आप, ४५ आपवत्स।

(ग) चौसठ योगिनियां—१ दिव्ययोगिनी, २ महायोगिनी, ३ सिद्धयोगिनी, ४ माहेश्वरी, ५ प्रेताक्षी, ६ डाकिनी, ७ काली, ८ कालरात्रि, ९ निशाचरी, १० हुङ्कारी, ११ सिद्धिवेताली, १२ हिङ्कारी, १३ भूतभ्रामरी, १४ ऊर्ध्वकेशी, १५ विरूपाक्षी, १६ शुष्काङ्गी, १७ नरभोजिनी, १८ फूत्कारी, १९ वीरभद्रा,

ईशानकोण पर नवग्रह और रुद्रों के आसन थे। ईशान और पूर्व के बीच की वेदी पर प्रधान देवता का आसन था। उस वेदी पर सर्वतोभद्र बना कर उसमें मण्डल के छप्पन देवताओं (ङ) का आवाहन कर उसके ऊपर कलश स्थापित किया गया था। कलश के ऊपर यन्त्र तथा उसके ऊपर

---

२० धूम्राक्षी, २१ कलहप्रिया, २२ राक्षसी, २३ घोररक्ताक्षी, २४ विशालाक्षी, २५ कौमारी, २६ चण्डी, २७ वाराही, २८ मुण्डधारिणी, २९ भैरवी, ३० वीरा, ३१ भयङ्करी, ३२ वज्रधारिणी, ३३ क्रोधा, ३४ दुर्मुखी, ३५ प्रेतवाहिनी, ३६ कर्का, ३७ दीर्घलम्बोष्ठी, ३८ मालिनी, ३९ मन्त्रयोगिनी, ४० कालाग्नि, ४१ मोहिनी, ४२ चक्रा, ४३ कुण्डलिनी, ४४ वालुका, ४५ कौवेरी, ४६ यमदूती, ४७ करालिनी, ४८ कौशिका, ४९ यक्षिणी, ५० भक्षिणी, ५१ कुमारिका, ५२ मन्त्रवाहिनी, ५३ विशाला, ५४ कामु‍र्की, ५५ व्याघ्री, ५६ महाराक्षसी, ५७ प्रेतभक्षिणी, ५८ धूर्जटी, ५९ विकटा, ६० घोररूपा, ६१ कापालिका, ६२ विकला, ६३ अमला, ६४ सिद्धिप्रदा।

(घ) क्षेत्रपाल—१ अजर, २ व्यापक, ३ इन्द्रचोर, ४ इन्द्रमूर्ति, ५ उक्षामिध, ६ कूष्माण्ड, ७ वारुण, ८ वाहुकाख्य, विमुक्त, १० लिप्तक, ११ ललोक, १२ एकदंष्ट्र, १३ ऐरावताख्य, १४ औषधीघ्न, १५ बन्धनाख्य, १६ दिव्यकाय, १७ कम्बलाख्य, १८ क्षोभण, १९ गर, २० घण्टामिध, २१ फटाटोप, २२ अनुस्वरूप, २३ चन्द्रवारुण, २४ घटाटोप, २५ जटाल, २६ ऋतु, २७ घण्टेश्वर, २८ विटङ्क, २९ मणिमति, ३० गणबन्ध ३१ डामर, ३२ ढुण्ढिकर्ण, ३३ स्थविर, ३४ दन्तुर, ३५ धनद, ३६ नागकर्ण, ३७ मारीगण, ३८ फेत्कार, ३९ चीकर, ४० सिंहाकृति, ४१ मृग, ४२ यक्षमप्रिय, ४३ मेघवाहन, ४४ तीक्ष्णोष्ठ, ४५ अनल, ४६ शुक्लतुण्ड, ४७ अन्तरिक्ष, ४८ बर्वरक, ४९ पावन।

(ङ) सर्वतोभद्र मण्डलाधिप—१ ब्रह्मा, २ सोम, ३ ईशान, ४ इन्द्र, ५ अग्नि, ६ यम, ७ निर्ऋति, ८ वरुण, ९ वायु, १० अष्टवसु, ११ एकादश रुद्र, १२ द्वादशादित्य १३ अश्विनीकुमार, १४ सपैतृक विश्वेदेव, १५ सप्तयक्ष, १६ अष्टकुलनाग, १७ गन्धर्वाप्सर, १८ स्कन्द, १९ वृषभ, शूल, २१ महाकाल, २२ दक्षादि सप्तगण, २३ दुर्गा, २४ विष्णु, २५ स्वधा, २६ मृत्युरोग, २७ गणपति, २८ आप, २९ मरुत्, ३० पृथिवी, ३१ गङ्गादिनदी, ३२ सप्त सागर, ३३ मेरु, ३४ गदा, ३५ त्रिशूल, ३६ वज्र, ३७ शक्ति, ३८ दण्ड, ३९ खड्ग, ४० पाश, ४१ अंकुश, ४२ गौतम, ४३ भरद्वाज, ४४ विश्वामित्र, ४५ कश्यप, ४६ यमदग्नि, ४७ वशिष्ठ, ४८ अत्रि, ४९ अरुन्धती, ५० कौमारी, ५१ ऐन्द्री, ५२ ब्राह्मी, ५३ वाराही, ५४ चामुण्डा, ५५ वैष्णवी, ५६ माहेश्वरी।

सिंहासन पर स्वर्णमयी गायत्री देवी की मूर्ति रक्खी गई थी। गणेश जी की मूर्ति भी चांदी की बनी थी। यज्ञशाला के चारों ओर दस दिक्पाल देवताओं के दस कलशों की स्थापना हुई थी। यज्ञशाला का ऊपरी भाग चारों ओर पताकाओं से सुशोभित किया गया था। जहाँ पर दस दिक्पालाओं के कलश स्थापित हुए थे। ठीक उसी के ऊपर छत पर ध्वजा और पताकाएँ लगाई गई थीं। वे तत् तत् देवताओं के रंग से रंगी थीं। प्रत्येक कलश के ऊपर त्रिकोण ध्वजा में प्रत्येक देवताओं के वाहन और चौकोर पताका में प्रत्येक देवता के अस्त्र अंकित थे। ये सब वाहन और अस्त्र विशेष विशेष रंग से अंकित किये गये थे। यज्ञशाला के मध्य में सोलह हाथ एक बांस के ऊपर विचित्र वर्ण की महाध्वजा सदा फहराती रहती थी। उसके छोर पर घुंघुरू बंधे थे अतएव जिस समय वह वायु के झोंके से झलती थी उस समय उसमें से मधुर ध्वनि सुनाई देती थी। ये ध्वजा और पताकाएँ प्रतिवर्ष वार्षिक उत्सव के समय बदल दी जाती थीं। तीनों वर्ष ऐसा ही क्रम चलता रहा। बन्दर, बिल्ली, चूहे, गौरैया आदि से यज्ञशाला की रक्षा करने के हेतु यथासम्भव सतर्कता वर्ती जाती थी।

यज्ञशाला जिस समय तैयार हो रही थी उसी समय यह प्रश्न उठा था कि इस यज्ञ-कर्म को निभायेंगे कौन ?—कौन आचार्य होंगे, कौन यजमान बनेंगे एवं कौन होता होंगे ? कोटि आहुतियों की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त लोगों की आवश्यकता थी। फिर इस यज्ञ का एक नियम यह भी था कि होताओं की संख्या में वृद्धि तो हो सकेगी पर कमी नहीं की जा सकेगी। यह भी विचारणीय था कि केवल होताओं की संख्या बढ़ाने से ही काम नहीं चलेगा—हवन-सामग्री, लकड़ियां इत्यादि की भी पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होगी। दूसरी बात यह थी कि यज्ञशाला निर्माण आदि कार्य ऐसी अवस्था में आरम्भ किया गया था जब कि पल्ले में एक कौड़ी भी नहीं थी। बहुत दिन पहले माँ के एक भक्त ने मां की सेवा के लिए कुछ धन देना चाहा था। इस यज्ञ के लिए वह धन मिल सकता है या नहीं यह पता लगाने पर मुझे मालूम हुआ कि दाता सज्जन की आर्थिक अवस्था में परिवर्तन हो गया है इसलिए वे इसी समय संकल्पित धन देने में असमर्थ हैं। अवश्य ही पूर्णाहुति के समय उन्होंने वे रुपये दे दिये थे। इसलिए अपनी आर्थिक स्थिति की ओर दृष्टिपात कर हमें आरम्भ से होताओं की संख्या में वृद्धि करने का साहस नहीं हुआ। माँ ने कहा था, एक आदमी अथवा तीन आदमियों से ही यज्ञ

का आरंभ कर दो, उसकी पूर्ति में चाहे कितने ही दिन क्यों न लगें। किन्तु स्मरण रहे कि यथासंभव शास्त्रीय विधान और निष्ठा के साथ ही कार्य हो ऐसा प्रयत्न करना। यदि हंसी खेल में जैसे तैसे ये सब काम किये जाते हैं तो पूर्णता नहीं होती। यथाशक्ति तथा यथासंभव आनन्द के साथ इन सब कामों में लगाना चाहिये।" हिसाब लगाकर मालूम हुआ कि यदि तीन आदमियों को लेकर काम आरंभ किया जाय तो यज्ञ की पूर्ति होने में लगभग नौ वर्ष लगेंगे। किन्तु किया क्या जाता। हमने तीन आदमियों को लेकर ही कार्य आरम्भ करने का संकल्प कर लिया। श्रीयुक्त अग्निष्वात्त शास्त्री मन्त्राचार्य का (श्री भाई वटुक जी का) इस यज्ञ के आचार्य पद पर वरण किया गया। वे शास्त्रज्ञ तथा वैदिक कर्म काण्ड के विशेष पारंगत विद्वान् हैं। बाल्यावस्था में वे श्रुतिधर (केवल एकबार सुनने से कण्ठस्थ कर लेनेवाले) और जातिस्मर (पूर्व जन्म के वृत्तान्त का स्मरण करने वाले) थे। श्रीयुक्त नेपालचन्द्र चक्रवर्ती यजमान बनाये गये। वे भी बड़े निष्ठावान् और बाल ब्रह्मचारी हैं। उनकी माँ के साथ जब पहले पहल भेंट हुई तभी से वे माँ के आदेशानुसार आज २२।२३ वर्षों से आश्रम-जीवन के तुल्य पवित्र जीवन बिताते आ रहे हैं तथा प्रतिदिन शालिग्राम का पूजन किये और भोग लगाये बिना कुछ भी ग्रहण नहीं करते। यजमान के अतिरिक्त और दो आदमी होते हुए—ब्रह्मचारी कमलान्त और श्री सदानन्द। ब्रह्मचारी कमलाकान्त बाल्यावस्था में ही घर-द्वार (परिवार) त्याग कर माँ के आश्रम में आये एवं इतने सुदीर्घ काल तक मां के विभिन्न आश्रमों में रहकर पूजा और साधना करते आ रहे हैं। शास्त्रीय विधि के अनुसार नियम बनाया गया था कि होता प्रतिदिन आहुति देने के पश्चात् मध्याह्न में केवल एक बार हविष्यान्न भोजन कर सकेंगे एवं रात्रि में केवल फलाहार ले सकेंगे। इस तरह संयम का अभ्यास कर होताओं को यज्ञ-समाप्ति पर्यन्त उसका पालन करना होगा। शरीर यदि अस्वस्थ हो जाय तो आयुर्वेदीय औषधि ली जा सकेगी, किन्तु डाक्टरी दवा लेना एकदम निषिद्ध होगा। फिर भी अस्वस्थता के कारण बाध्य होकर यदि किसी को डाक्टरी दवा लेनी ही पड़े तो आरोग्य होने के बाद उसको प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। माथा मुड़ा कर मन्त्रपूत गङ्गाजल में स्नान और दस हजार गायत्री जप करना प्रायश्चित का रूप निश्चत हुआ था।

यज्ञ के लिए कुछ लकड़ियाँ श्रीयुक्त कन्हैयालाल जी से मिल गई थीं। लकड़ियों के अतिरिक्त चावल, तिल, जौ, चीनी इत्यादि का भी

थोड़ा-बहुत प्रबन्ध किया गया था। उसके बाद उपस्थित हुई घी की समस्या। हमारा विचार भैंस के घी से ही आहुति देने का था। ढाका के पोस्टमास्टर श्री सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय जी ने माँ के सेवन के लिए कुछ दिन पूर्व पांच सेर विशुद्ध गोघृत भेजा था। वह उस समय तक माँ के उपयोग में नहीं आया था। माँ ने कहा था, "इस घी से ही यज्ञ आरंभ कर सकती है, उसके बाद जैसा होगा देखा जायगा।" माँ के इस कथन से मेरे मन में आया कि गोघृत से ही यज्ञ हो ऐसी माँ की इच्छा मालूम होती है। पहले गोघृत, उसमें भी विशुद्ध गोघृत, काशी ऐसी जगह में इकट्ठा करना कितना कठिन है यह सब विदित है। किन्तु एक बार जब माँ के मुँह से गोघृत की बात निकल चुकी तब मैंने ठाना कि हम लोगों को उसका संग्रह करने की प्राणप्रण से चेष्टा करनी ही चाहिये। चेष्टा करना हम लोगों के हाथ में है, फलाफल माँ देखेंगी।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि हम लोग धन का संग्रह किये बिना एक प्रकार रिक्त हाथ से ही यज्ञ के काम में अग्रसर हुए थे। जिस स्थान से कुछ धन मिलने की आशा कर रक्खी थी वहाँ से भी निराश होना पड़ा था। ऐसे आर्थिक संकट के समय अकस्मात् एक दिन अहमदाबाद के ला कालेज के प्रिंसिपल से एक हजार रुपयों का एक ड्राफ्ट (Draft) प्राप्त हुआ। उन्होंने लिखा था, "श्री माँ की सेवा में ये रुपये खर्च किये जायँ।" उन रुपयों से ही यज्ञ का प्रारम्भिक कार्य शुरू हुआ था। जब तक यह यज्ञ चला तब तक धन अथवा अन्यान्य वस्तुओं की प्रचुर मात्रा में कभी प्राप्ति नहीं हुई। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता कि मानो हाथ रुक ही जायगा। किन्तु माँ की ऐसी कृपा रही कि किसी न किसी उपाय से हाथ में रुपया आ जाता और जटिल स्थिति सुलझ जाती यज्ञ समाप्त होने के बहुत दिन बाद श्री मां ने एक दिन हँसते-हँसते कहा था यज्ञ कार्य में यज्ञेश्वर इन्हें ऐसी अवस्था के बीच लाये कि सभी विषयों में इन्हें मानो केवल यज्ञेश्वर के ही मुखापेक्षी होना पड़ा था। इनके निश्चिन्त मन से और किसी के ऊपर निर्भर रहने का कोई उपाय ही न था।"

यज्ञारम्भ का प्रायः सारा ही आयोजन बहुत सी विघ्न-बाधाओं के मध्य से गुजर कर सम्पूर्ण हुआ। उस समय प्रश्न उठा कि यज्ञाग्नि किस प्रकार तैयार की जायगी। संवत् १९८३ की दीपावली के दिन कालीपूजा के निमित्त जिन अग्नि देव का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनकी इतने दिनों से बड़े जतन के साथ श्री माँ के ढाका के आश्रम में रखवाली होती आ रही

थी एवं जिनके सम्बन्ध में माँ ने उसी समय 'उन्हें एक महायज्ञ में लगा दूँगी' यह कहा था। बीस वर्ष बाद जिस समय वही यज्ञ वास्तविकता में परिणत होने जा रहा था उस समय मुझे उन अग्निदेव की विस्मृति हो गई थी। विस्मृति होना कुछ अस्वाभाविक न था, कारण कि उस समय मन यज्ञ के विविध विषयों में उलझा रहता था। अस्तु, मुझे विस्मृति होने पर भी जो इस यज्ञ के कर्णधार के रूप में सदा जागरूक थीं उन्होंने ढाका से उन अग्निदेव को मँगाने की व्यवस्था कर दी थी। ढाका के आश्रम के केशव ब्रह्मचारी को उन अग्निदेव को ले आने के लिए लिखा गया था। माँ का आदेश पाते ही वह एक वर्तन में अग्नि लेकर स्वयं काशी को रवाना हुआ था। मार्ग में पटना से इधर दानापुर स्टेशन पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि अग्नि बुझ गई है। इसलिये उसे पुनः ढाका लौट जाना पड़ा। शुभ कार्य में बहुत से विघ्न आते हैं। यज्ञेश्वर ने विविध विघ्नों के द्वारा ही हम लोगों की कर्मक्षमता बढ़ा कर हमें अपनी सेवा के योग्य बनाया था। केशव पुनः बड़े जतन से अग्नि लेकर यज्ञारम्भ के पहले दिन काशी आ पहुँचा।

यद्यपि ढाका की अग्नि से ही सावित्री-यज्ञ सम्पन्न होगा वह पहले से ही निश्चित था तथापि माँ तो अपने को कर्ता-धर्ता मान कर कभी भी स्पष्ट आदेश द्वारा किसी को भी किसी कर्म से प्रेरित करती नहीं। इसी-लिये उन्होंने यज्ञ के आचार्य भाई श्री बटुक जी को बुला कर पूछा, "शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ की अग्नि किस प्रकार प्रज्वलित की जा सकती है।" भाई बटुक जी ने उत्तर दिया कि अरणि के द्वारा ही यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित करने की शास्त्रीय विधि है। उस समय ढाका से जो अग्नि लाई गई थी उसका पहले का इतिहास बटुक जी से विस्तारपूर्वक कह कर माँ ने पूछा, "अच्छा, क्या इस अग्नि से यज्ञ का आरम्भ नहीं किया जा सकता।" श्री बटुक जी माँ के सम्पर्क में बहुत कम रहे थे। इस यज्ञ कार्य में सम्मिलित होकर माँ का जैसा उन्हें परिचय हुआ उससे पूर्व वैसा परिचय पाने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये वे माँ की बात सुनकर कुछ देर तक मौन रहे। उनकी यह मौन-मुद्रा हम लोगों को अच्छी ही लगी थी, क्योंकि उससे उनकी शास्त्रनिष्ठा का परिचय मिला था। उन्हें सन्देहाक्रान्त देख कर माँ ने फिर कहा, "देखो दूसरा भी एक रास्ता निकाला जा सकता है। वह यह कि अरणि द्वारा जो अग्नि प्रज्वलित होगी उसको और ढाका के यज्ञ की अग्नि को भली भांति जलाकर दोनों अग्नियों को एक बर्तन में साथ ही साथ रख कर

उनकी सम्मिलित शिखा से क्या इस यज्ञ के लिए अग्नि नहीं ली जा सकती।" माँ की वे सब बातें सुन कर भाई बटुक जी को प्रतीत हुआ कि शायद ढाका की अग्नि से ही सावित्री-यज्ञ हो ऐसी माँ की इच्छा है। इसलिये उन्होंने कहा, "बहुत ठीक, ढाका को अग्नि से ही यज्ञ आरम्भ किया जायगा।"

उधर हमारे कमलाकान्त ब्रह्मचारी की इच्छा हुई कि किस प्रकार अरणि से अग्नि पैदा की जाती है यह देख कर सीख रक्खूँ। इसलिए वह अपनी मर्जी से ही बाजार से अरणि खरीद लाया था। भाई बटुकजी अरणि की लकड़ियाँ देखते ही बोल उठे कि यतः अरणि आ ही गई है, इसलिये उसके द्वारा ही अग्नि उत्पन्न की जायगी। यह सुनकर मां ने कहा, "ठीक है, यज्ञेश्वर जो करे। देखो उनकी क्या इच्छा है। यहां पर तो सभी काम शास्त्रीय विधि के अनुसार ही हो रहे हैं।"

प्रातःकाल ४ या ४॥ बजे यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की जायगी, ऐसा निश्चय हुआ। भाई श्री बटुक जी ने उस समय उपस्थित रहने का माँ से अनुरोध किया। माँ ने तनिक हंस कर अपनी सहमति प्रकट की। निश्चय हुआ कि कमलाकान्त जाकर उस समय माँ को बुला लायेगा। ढाका से जो अग्नि आई थी वह भी एक बाल्टी में रक्खी गई थी। बाल्टी एक ताँबे के बर्तन के ऊपर भली भांति जमा कर एक जगह रख दी गई थी।

ये सब बातें जिस दिन हुई थीं उसके अगले दिन ही यज्ञ आरंभ होने वाला था। सन्ध्या के बाद ही भाई श्री बटुक जी तथा कमलाकान्त यज्ञशाला में नाना प्रकार के मण्डल बनाने में लग गये। ये सब काम पूरे करने में रात्रि का १ बज गया। माँ उस समय विश्राम करने ऊपर चली गईं। भाई श्री बटुक जी तथा कमलाकान्त ने अरणि को भींगी देखकर उसे दुमंजिले के स्मृति-मन्दिर में एक अंगीठी के ऊपर रख दिया, यह इसलिए कि कुछ सूख जाने पर उससे अग्नि उत्पन्न करना सहज होगा। अंगीठी में बहुत थोड़ी अग्नि थी एवं जो लकड़ियाँ उसके ऊपर रक्खी गई थीं वे भींगी और अधिक थीं। अत्यन्त मन्द एक प्रकार से बुती हुई सी यह अग्नि इन लकड़ियों को भली भांति गरम कर सकेगी ऐसी धारणा भी कमलाकान्त ब्रह्मचारी न कर सका था।

रात में ४॥ बजे स्वयं ही भाई श्री बटुक जी तथा कमलाकान्त के समीप आकर माँ ने तनिक हँस कर पूछा, "क्या समाचार है?" उन्हें

देख कर कमलाकान्त ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। भाई श्री बटुक जी ने भी माँ को प्रणाम कर कहा, "जो होना था वह हो गया। अब अरणि से यज्ञ की अग्नि उत्पन्न नहीं की जायगी, क्योंकि अग्नि के ताप से वह दूषित हो गई है। इस समय ढाका के यज्ञ की अग्नि से ही कार्य आरंभ करना पड़ेगा।" अरणि परीक्षा द्वारा देखी गई। उसका मध्य भाग जल कर काला कोयला हो गया था। किस प्रकार ऐसा हो सका यह विचार कर हम सभी लोग विस्मित हुए। इसके बाद श्री माँ ने कमलाकान्त से कहा था, "तुमने इतने दिनों तक उस अग्नि की परिचर्या की है, तुम्हें समझना चाहिये था कि सावित्री-यज्ञ के लिए उस अग्नि के अतिरिक्त दूसरी अग्नि की आवश्यकता नहीं है। प्रयत्न करके तुमने दे[illegible]ा न! यज्ञेश्वर की जो इच्छा थी वही हुआ।"

■
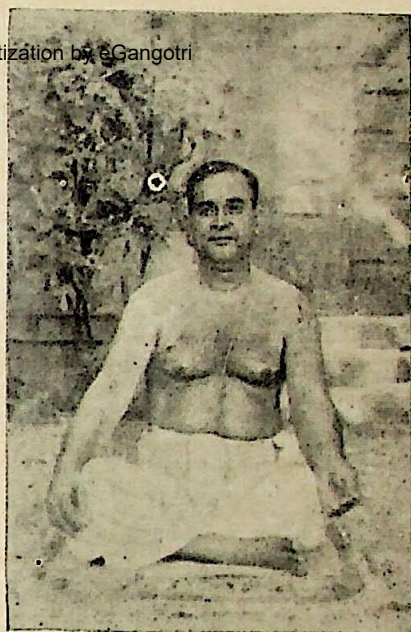
श्री १०८ स्वामी शरणानन्द जी महाराज

श्री १०८ गोपालठाकुरजी महाराज

श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य जी (जापक)

श्री अग्निपारवा शास्त्री जी अग्निहोत्री
(आचार्य)

(३)

यज्ञारम्भ

संवत् २००४ पौष संक्रान्ति के दिन (ता० १४–१–४७) यह यज्ञ आरम्भ हुआ था। चिरकाल की आशा, आकांक्षा, उत्साह और उमंग से दीर्घकाल के वाद-विवाद तथा कल्पना-जाल को छिन्न-भिन्न कर हमारे चिर अभिलषित महायज्ञ ने उस दिन वास्तविक रूप धारण किया था। इस खुशी में सारा आश्रम उत्सव में मस्त हो उठा था। रंग-विरंगे फूल-पत्ते, पेड़ आदि के द्वारा सारा आश्रम सजाया गया था। यज्ञशाला भी बड़ी सुन्दर दिखाई देती थी। उसके तीन ओर आश्रम की बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें थी, सामने पूर्व की ओर कल्मषनाशिनी उत्तरवाहिनी गङ्गा कल-कल ध्वनि से बह रही थी। उसके बाद ही गङ्गा का विस्तीर्ण सैकत-प्रदेश तथा हरी-हरी वनराजि की मनोरम शोभा दर्शकों की दृष्टि को अपनी ओर बलात् खींचती थी।

यज्ञारम्भ के कारण आश्रम में लोगों का आना-जाना कम नहीं हुआ था। हरिबाबा अपने भक्तों के साथ उपस्थित हो चुके थे। आचार्य गोपालचन्द्र चट्टोपाध्याय जी इलाहाबाद से आये थे, इनके अतिरिक्त डा० पन्नालाल आदि अनेक गण्य-मान्य सज्जन विभिन्न स्थानों से आश्रम में आये थे। काशी-क्षेत्र में गंगाजी के ऊपर कोटि आहुतियाँ पूर्ण करने का संकल्प लेकर यज्ञ का आयोजन किया गया था। शास्त्रीय विधिका शत-प्रतिशत पालन कर निष्ठावान् ब्राह्मण ब्रह्मचारियों द्वारा उसे सम्पन्न करना था, वर्ष चाहे कितने ही क्यों न लगें। उस अनुष्ठान की गम्भीरता और महत्ता का सभी उस दिन अनुभव कर सके थे या नहीं, यह मैं नहीं जानती पर इन सब विषयों का विचार कर मेरे हृदय में एक अपूर्व भाव का संचार हुआ था।

पहले दिन यज्ञ के उद्योग का आयोजन करने में ही बहुत रात बीत गई थी। कार्यकर्त्ता श्रान्त होकर विश्राम कर रहे थे; किन्तु रात्रि खुलने के पहले ही आश्रम में निवास करनेवाले एक दल ने ब्राह्म मुहूर्त की निस्तब्धता को चीरते हुए मृदङ्ग और करताल के साथ अति मधुर स्वर में कीर्तन आरम्भ कर दिया था। पहले उन्होंने कीर्तन करते करते

यज्ञशाला की प्रदक्षिणा की। तदनन्तर आश्रम के चारों ओर घूम घूम कर कीर्तन किया। उनके कीर्तन की ध्वनि सुनकर सभी लोग शय्या त्याग कर उठ खड़े हुए। उस दिन सभी आश्रमवासियों का मन उत्साह से ओत-प्रोत था, औत्सुक्यपूर्ण आनन्द की आभा से उनके मुखमण्डल दमक रहे थे। वे लोग प्रातःकृत्य समाप्त कर पहले से निर्धारित अपने अपने कार्य में दत्तचित्त हो गये थे। गुग्गुल धूप की सुगन्ध से प्रातःकालीन पवन गमक उठा था। यज्ञ के होता गंगास्नान के बाद सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्त होकर हवन आरम्भ करने के लिये तैयार हो गये थे। उनके पहनने के कपड़े पीले थे, सिर पर रंगीन साफा और गले में रुद्राक्ष की की माला शोभा पा रही थी। उन्हें देखकर प्राचीनकाल के ऋषिकुमारों का स्मरण हो उठा था। ऋषिकुमारों के समान ही वे भी एक महा तपस्या में दीक्षित होने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सूर्योदय के उपरान्त यज्ञ के आचार्य भाई श्री बटुक जी तथा यजमान और प्रधान होता भाई श्री नेपाल ब्रह्मचारी आये। शालिग्राम-शिला ऊपर से नीचे उतारी गई एवं चण्डी-मण्डप में पहले नारायण-पूजन हुआ उसके बाद नान्दीमुख, गणेश, षोडशमातृका, वसोर्धारा आदि की पूजा विधिपूर्वक हुई। तदनन्तर यज्ञशाला में यज्ञारंभ तथा विविध देव पूजाओं का समय उपस्थित हुआ। चारों ओर शङ्ख-ध्वनि तथा उलू-ध्वनि[1] (आनन्द ध्वनि) होने लगी और नाना प्रकार के बाजे बज उठे। आचार्य, यजमान आदि सभी माँ की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने माँ का मुँह धुला कर वस्त्र बदल दिये। माँ नीचे आते आते बोलीं, "बेटी, क्या तुम लोगों में से किसी को भी ऐसी धारणा हुई थी कि जिस अग्नि की बीस वर्ष से रखवाली हो रही है वह आज काशी क्षेत्र में गङ्गा जी के तट पर अपने को इस प्रकार प्रकाशित करेगी?" यह कहते कहते माँ के दोनों नेत्र सजल हो उठे। मैं स्वयं भी माँ की बात सुन कर अपने आँसू न रोक सकी।

प्रातःकाल ही ढाका से मँगाई गई अग्नि एक ताँबे के पात्र में रखकर पुष्पमाला द्वारा सजाई गई थी। माँ के नीचे उतर आने पर ब्रह्मचारी कमलाकान्त ने उक्त ताँबे के पात्र को हाथ में उठा लिया। अन्य दो व्यक्तियों ने सोने की गायत्री और चाँदी की गणेशजी की प्रतिमा ले

---

१. वङ्गदेश में माङ्गलिक कृत्यों के अवसर पर स्त्रियाँ जो मधुर ध्वनि करती हैं उसे उलूध्वनि कहते हैं।

लीं। उसके बाद आचार्य, यजमान, ब्रह्मचारी गण, श्री माँ, हरि बाबा, श्रीयुत गोपालजी आदि महात्माओं ने एक साथ विविध बाजे गाजे, शङ्ख-ध्वनि, उलू-ध्वनि (मधुर आनन्दध्वनि) और कीर्तन के साथ तीन बार यज्ञशाला की प्रदक्षिणा कर पश्चिम द्वार पर पृथ्वी पूजा करते हुए पश्चिम द्वार से ही यज्ञशाला में प्रवेश किया। इन सबके यज्ञशाला में प्रवेश करने पर यज्ञशाला के चारों द्वारों से चारों वेदों का उद्घोष होने लगा। उस समय का दृश्य जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा था वे ही उसकी गम्भीरता और पवित्रता के सम्बन्ध में धारण कर सकेंगे। तदुपरान्त विभिन्न वेदियों के ऊपर विभिन्न देवताओं की स्थापना और पूजा हुई। आचार्य जी के यह पूछने पर कि यज्ञ में कितनी आहुतियों का संकल्प करना होगा ? मैंने कहा "एक बार माँ ने कहा था—'एक कोटि आहुतियाँ हो सकेंगी क्या ?' एक कोटि शब्द माँ के श्रीमुख से जब निकल चुका है तब एक कोटि आहुतियों का हो संकल्प किया जाय।" वही किया गया। आचार्य जी ने पुनः पूछा, यज्ञारंभ के पूर्व संकल्प करना चाहिये। यहाँ पर क्या संकल्प लेकर यज्ञारंभ करना होगा ? निष्काम यज्ञ में भी संकल्प करना पड़ता है। श्री माँ के संकेत के अनुसार मैंने कहा, "मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता इत्यादि सकल ब्रह्माण्ड के जो इष्ट देव हैं उनकी प्रीति के लिए यह यज्ञानुष्ठान है।" यह सुनकर आचार्य ने यथाविधि शास्त्रानुसार संकल्प-वाक्य पढ़ा।

यज्ञशाला तथा यज्ञ-कुण्ड के पूजादि संपूर्ण कार्यों के सुसम्पन्न होने पर ताँबे के कुण्ड में रक्खी हुई उस यज्ञाग्नि की यज्ञ-कुण्ड में स्थापना की गई। विन्ध्याचल के आम के पेड़ की जो लकड़ियाँ संचित करके रक्खी गई थीं उन्हीं से यज्ञ-कुण्ड स्थित अग्नि प्रज्वलित की गई। किसलिये माँ ने कमलाकान्त से उक्त आम के पेड़ की लकड़ियाँ इकट्ठी करने को कहा था यह इतने दिनों के बाद हम लोगों की समझ में आया। जो वृक्ष का रूप धारण कर विन्ध्याचल पर खड़े थे वे कौन थे या क्यों अप्रत्याशित रूप से वह वृक्ष ढह गया था अथवा क्यों उस वृक्ष की लकड़ियों से सर्व-प्रथम इस महायज्ञ की अग्नि प्रदीप्त की गई थी यह सब एकमात्र माँ ही जानती हैं। उसके सम्बन्ध में हमारा कुतूहल होना स्वाभाविक है, किन्तु दरिद्र के मनोरथ के समान वह हृदय में उठ कर तुरन्त वहीं विलीन होने को वाध्य होता है।

इसके पश्चात् श्री कन्हैयालालजी की भेजी हुई पलाश की लकड़ियों से अग्नि को खूब भड़का कर होताओं ने उसमें, प्रतिदिन जितनी

आहुतियाँ देना निर्धारित था उतनी, आहुतियां दीं। इस तरह हम लोगों के चिरकांक्षित महायज्ञ का श्रीगणेश हुआ। अग्निस्थापन और हवन समाप्त करने में रात्रि के लगभग ८ बज गये थे।

इस यज्ञ के आचार्य तथा यजमान के नाम और परिचय का उल्लेख पहले ही हो चुका है। आचार्य ने स्वयं ही चार द्वारपाल, सदस्य, उपद्रष्टा और गाणपत्य का कार्य सम्पादन किया था। होताओं में ब्रह्मचारी कमलाकान्त ने ब्रह्मा का काम किया था। अग्नि की रक्षा करने के लिए श्री स्वरूप ब्रह्मचारी नियुक्त हुए थे। यह अवश्य कुछ दिन पीछे की बात है। ये अति शान्त स्वभाव तथा चरित्रवान् एक महाराष्ट्र-ब्रह्मचारी हैं।

केवल तीन होताओं को लेकर यह यज्ञ आरम्भ हुआ था, किन्तु धीरे-धीरे होताओं की संख्या में जिस प्रकार वृद्धि की गई थी उसका आगे यथाक्रम उल्लेख किया जायगा। वर्तमान समय में निष्ठावान् ब्रह्मचारियों को जुटाना कोई सरल काम नहीं है, किन्तु इस कार्य में वह भी श्री माँ की कृपा से अनायास हो गया था। भाई जी के संकल्पित विद्यापीठ के छात्रों से हमें होम करने के लिए निष्ठावान् ब्राह्मण ब्रह्मचारी मिल सके थे। इस सिलसिले में विद्यापीठ की स्थापना के इतिहास का वर्णन कर देना मेरी समझ में अप्रासंगिक न होगा।

एक बार मसूरी में श्री माँ भाई जी को साथ लेकर घूमने के लिए निकलीं। घूमते घूमते वे लेन्डर बाजार के समीप एक जगह विश्राम करने लगे। इसी बीच स्थानीय एक विद्यालय के आँगन में खूब शोर-गुल मचा कर खेलते हुए बहुत से छोटे छोटे बच्चों को उन्होंने देखा। उनकी दौड़-धूप और शोर-गुल में वह स्थान मुखरित हो रहा था। इतने में स्कूल की घण्टी बजी। उस घण्टी का शब्द सुनते ही खेल-कूद छोड़ कर वे सब झटपट चुपचाप अपनी कक्षा में घुस पड़े। जो स्थान बच्चों के हो-हल्ले से इतनी देर तक गुलजार था वह मानो अकस्मात् स्वप्न के समान अदृश्य हो गया। यह देख कर माँ ने कहा, "वाह! यह तो खूब रहा! यदि मान लिया जाय कि घण्टे का शब्द सुन कर बच्चों ने सोचा कि हमारी प्रार्थना का समय उपस्थित हुआ एवं यह विचार आते ही वे खेल-कूद छोड़ कर भगवान् को पुकारने के लिए जल्दी-जल्दी कमरे में घुस रहे हैं तो कितना सुन्दर हो।" माँ की यह बात सुनते ही भाई जी के मनमें एक आश्रम-स्थापना का शुद्ध संकल्प जाग उठा था। उन्होंने माँ

से अपने संकल्प की चर्चा की। माँ ने कहा, आश्रम तो बहुतेरे हैं फिर एक नया आश्रम खोल कर क्या होगा ?" इसके उत्तर में भाई जी ने कहा था, "माँ, यह आश्रम और आश्रमों के तुल्य नहीं होगा। इस आश्रम का उद्देश्य साधु तैयार करना न होगा, बल्कि केवल सेवाभाव से ही आश्रम चलाते जाना इसका उद्देश्य होगा। मैं यदि ८ से १२ वर्ष तक के बच्चे पा जाऊँ तो उन्हें धर्म-पथ पर चलने में सहायता दे सकता हूँ। वे बड़े होकर यदि साधु बनना चाहे तो अच्छा है। यदि साधु न बन कर गृहस्थ ही बनें तो उसमें भी क्या हानि है ? क्योंकि छोटी अवस्था में यदि धर्म की छाप उनके मन पर पड़ जायगी तो वे गृहस्थ हो कर भी आजकल के गृहस्थों की अपेक्षा कहीं अच्छे गृहस्थ होंगे।" इस अभिप्राय से ही भाई जी ने किशनपुर आश्रम की स्थापना की। किन्तु उनके जीवन काल में वहाँ छात्रों के अध्यापन का कोई प्रबन्ध नहीं हुआ। उनके देहत्याग के पश्चात् संवत् १९९८ वि० २ री जेठ (१६-५-४१) को वर्तमान विद्यापीठ की नीव पहले पहल पड़ी। सोलन के राजा साहब श्री दुर्गासिंह जी, जिन्हें राजर्षि कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है, इस विद्यापीठ की स्थापना के समय उपस्थित थे एवं उसी समय से बराबर उसका समस्त व्ययभार चलाते आ रहे हैं। यही कारण है कि इस विद्यापीठ में कतिपय ब्राह्मण-बालक निष्टा के साथ ब्रह्मचर्याश्रम के होम, सन्ध्यावन्दनादि कर्मों का पालन कर विविध लौकिक विषयों में शिक्षा प्राप्त करते आ रहे हैं। इन सब सुकुमार बालकों में से ही इस यज्ञ के होता चुने गये थे। इस महायज्ञ में इन लोगों की आवश्यकता होगी यह सोच कर ही मानो यज्ञेश्वर ने उन्हें इस प्रकार इतने दिनों से तैयार कर रक्खा था। यज्ञारम्भ के एक वर्ष बाद एक बार जब मां काशी से दिल्ली जा रही थीं तब होताओं के माँ को प्रणाम करने के लिए उनके समीप आने पर माँ ने कहा था, "तुम लोग खूब उत्साह से यज्ञ किये जाओ। बड़े सौभाग्य से तुम लोगों को यह सेवा का सुयोग मिला है। इस प्रकार के महायज्ञ में फिर किसी को कभी दीक्षित होने का अवसर मिलेगा या नहीं यह कौन जाने ?"

विद्यापीठ के बालकों के सिवा ढाका आश्रम के अन्यान्य ब्रह्मचारियों को भी इस यज्ञ में दीक्षित होना पड़ा था। उनमें योगेश ब्रह्मचारी, कमलाकान्त ब्रह्मचारी एवं अतुल ब्रह्मचारी के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी अपना परिवार छोड़ कर श्री माँ के आश्रम में रहते हुए पूजा, हवन आदि कार्यों का अटल निष्ठा के साथ नित्य पालन कर लगभग

वर्ष से दिव्य जीवन-लाभ के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। पूर्वोक्त ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त जो लोग किसो न किसी समय इस यज्ञ में होता के रूप से वियुक्त हुए थे उनके नाम और वय का यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है। श्री सदानन्द ब्रह्मचारी (१७), श्रीसनन्दन ब्रह्मचारी (१७), श्री तपनकुमार ब्रह्मचारी (१५), श्री स्वरूपकुमार ब्रह्मचारी (२२), श्री रामनरेश ब्रह्मचारी (१७), श्री चित्तरञ्जन ब्रह्मचारी न्याय-वेदान्ततीर्थ (३५), श्री वासुदेव ब्रह्मचारी (१४), श्री अमूल्य ब्रह्मचारी (१९), श्री राजेन्द्र ब्रह्मचारी (१४), श्री सोहन ब्रह्मचारी (१३), श्री परिमल ब्रह्मचारी (१३), श्री भूपेन्द्र ब्रह्मचारी (२२),श्री विभुपद ब्रह्मचारी (२७),श्री दासू ब्रह्मचारी (१७) और श्री नवकुमार ब्रह्मचारी (२०) इनमें से रामननेश, भूपेन्द्र तथा चित्तरञ्जन के सिवा सभी पूर्णाहुतिपर्यन्त यज्ञ कार्य में दीक्षित रहे। इनमें से ४ या ५ व्यक्तियों को छोड़ कर सभी विद्यापीठ के छात्र थे। विभु ब्रह्मचारी और स्वरूप ब्रह्मचारी विद्यापीठ के शिक्षक थे। होता लोग प्रतिदिन प्रातःकाल तड़के गङ्गास्नान कर अपने अपने सन्ध्यावन्दनादि आह्निक कृत्य से निवृत्त हो यज्ञशाला में इकट्ठे हो जाते थे। उनमें से प्रत्येक के लिए होमकुण्ड के चारों ओर छोटी-छोटी काठ की चौकियों के ऊपर पीतल अथवा लकड़ी के बर्तनों में आहुति सामग्री सजी सजाई तैयार रहती थी। प्रधान होता के सामने ताम्रपात्र में आहुति के लिए घृत रक्खा रहता था। होम के समय प्रत्येक होता बाएँ हाथ में कुशमुष्टि और गिनती के लिए माला लिये रहते थे। वे प्रायः रेशमी धोती, गले में रुद्राक्ष की माला, सिर पर साफा, भाल पर भस्म का का त्रिपुण्ड्र और कन्धे पर दुपट्टा धारण कर समान स्वर से विशुद्धरूप में गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुण्ड में आहुतियां छोड़ते थे। उस समय का दृश्य देखने पर वैदिकयुग की एक मनोहर झलक सैकड़ों शताब्दियों के अन्धकार को चीर कर काशीपुरी में गङ्गा जी के तटपर प्रादुर्भूत हुई ऐसा प्रतीत होता था।

यज्ञशाला के बीच में एक ब्रह्मचारी आसन लगा कर श्री माँ के आदेशानुसार आहुति के साथ साथ अलग से गायत्री-मंत्र का जप करता जाता था। दिन भर में जितनी आहुतियाँ पड़ती थी उनका उतना जप भी हो जाता था। पहले श्री विजयशङ्कर व्यास इस काम में नियुक्त हुए थे। वे एक गुजराती ब्राह्मण हैं। उनका जन्म पंडित कुल में हुआ है। वे भी बाल ब्रह्मचारी हैं। उनकी प्रकृति उदार और स्वभाव बड़ा सुन्दर है। उनकी अनुपस्थिति में ब्रह्मचारी कुसुम, ब्रह्मचारी मृण्मय और

श्रीमान् दुर्गा सिंहजी, बाघाट नरेश, सोलन

श्री श्री मा के साथ विद्यापीठके शिक्षक और छात्रगण

श्री श्री मा के साथ कन्यापीठ के शिक्षयित्री और छात्रिगण

ब्रह्मचारिणी उदास का इस कार्य में नियोग हुआ था। श्री कुसुम उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी बालब्रह्मचारी रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का निष्ठा के साथ पालन करने की चेष्टा कर रहे हैं। ब्रह्मचारी मृण्मय ने यज्ञ के बाद परमहंस संन्यास ग्रहण कर लिया है। ब्रह्मचारिणी उदास ने चिरकाल से ही श्री मां की सेविका के रूप में आत्मसमर्पण कर रक्खा है। उनका वैदिक रीति के अनुसार उपनयन संस्कार हुआ है। यज्ञ के होताओं में अधिकांश होता अल्पवयस्क बालक थे। वे इस शीत और ग्रीष्म प्रधान काशीपुरी में किस प्रकार लगातार तीन वर्ष तक यज्ञ कर्म में संलग्न रह सके इस विषय में विचार करने पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। लगातार तीन चार घंटे तक एक ही मंत्र की पुनः पुनः आवृत्ति करते करते कुछ समय के बाद किसी किसी को तन्द्रा और आलस्य न धर दबावें, इसके लिये यज्ञशाला के भीतर एक घण्टा लटका रक्खा था एवं बीच बीच में घंटा बजाकर होताओं को सतर्क कर दिया जाता था। इन सब कामों का निरीक्षण करने के लिए आश्रम के दो एक ब्रह्मचारी नियुक्त रहते थे।

होता लोग प्रतिदिन जितनी आहुतियाँ देते थे उतना ही गायत्री मन्त्र का जप पृथक् रूप से दिन में जब कभी कर लेते थे। पूर्णाहुति तक यही क्रम चला था।

प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को यज्ञशाला को ध्वजा और पताकाओं से सुसज्जित कर कुण्ड में चरु आदि द्वारा आहुतियां दी जाती थीं। उस चरु के लिए ऊखल में धान कूट कर चावल तैयार किये जाते थे। तदनन्तर उनसे नई तिपेरी और डेगची में होमाग्नि द्वारा चरु पका कर आहुतियां दी जाती थीं। उक्त दो दिनों में वेदी के सब देवताओं का विशेष रूप से सजा कर पूजन होता था एवं पूजा के अन्त में नित्य होम आरंभ होता था। और दिन आहुति देने के पहले ही वेदी के देवताओं की तथा कुण्ड स्थित अग्नि की पूजा होती थी। अग्निदेव की पूजा के बाद सभी महाव्याहृति आहुतियाँ प्रदान पूर्वक एक स्वर से गायत्री-मन्त्र का उच्चारण कर होम आरम्भ करते थे।

आहुति-सामग्री में तिल, जौ, चावल, चीनी, घी, पञ्चमेवा (बादाम, पिस्ता, किसमिस, गरी और खजूर) एवं सुगन्ध द्रव्यों का चूर्ण (जटामांसी, अगरु, गुग्गुल, तगर, कपूर, चन्दनचूरा आदि) इत्यादि वस्तुएँ थीं। होम के पश्चात् पुनः महाव्याहृति तथा अग्नि देव की स्तुति और

प्रणाम करने का नियम था। तदनन्तर होम-संख्या के अरूप तर्पण, मार्जन आदि कर दैनिक आहुतियों का काम पूरा होता था।

यज्ञ के लिये नित्य प्रचुर मात्रा में हवन सामग्री की आवश्यकता होती थी। वह पहले से ही इकट्ठा कर और शास्त्रोक्त रीति से साफ कर आहुति के लिए तैयार रखी जाती थी। वह भी एक परिश्रमसाध्य काम था। जिस समय यह यज्ञ आरम्भ हुआ था उस समय प्रायः सभी वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ थीं, मूल्य बेहिसाब चढ़े थे और उनपर सरकार का कन्ट्रोल था। श्री माँ का आदेश था कि काले बाजार से कोई वस्तु न खरीदी जाय और हवन-सामग्री एक मुट्ठी भी कम न होनी चाहिये। ऐसे संकट के समय किस प्रकार उतनी प्रचुर यज्ञ-सामग्री संगृहीत हुई यह विचार कर मुझे आश्चर्य होता है। यह असाध्य कार्य-सिद्धि एकमात्र यज्ञेश्वर की कृपा से ही हो सकी थी, यह निर्विवाद है।

श्री श्री माँ ने पहले से ही हमें सावधान कर दिया था कि हवन-सामग्री में कीड़े-मकोड़े आदि कुछ न रहने पावें। माँ ने कहा था, "तुम लोग अपने भोजन के पदार्थों को जैसे छांट बीन कर साफ सुथरा करते हो यज्ञ की वस्तुओं को भी वैसे ही साफ करो, क्योंकि यह भी तो ठाकुर के भोग के लिए है। बाजार से चीजें खरीद कर विना छीटे बीने ऐसे ही आहुतियाँ दी जायँ, उनके साथ कितनी विजातीय वस्तुएँ और कितने कीड़े-मकोड़े आदि अग्नि में पड़े, इस ओर यदि ध्यान न दिया जाय तो वह अवैध काम है। हवनीय वस्तुओं को यथा साध्य धो-बीन साफ कर सुन्दर और शुद्ध रूप से आहुति के लिये रख देना।" श्री माँ के इस निर्देश के कारण हवन-सामग्री के बाजार से आने पर मेवे आदि एक एक करके भली भाँति बीन कर रक्खे जाते थे। तिल आदि छांट बीन कर पहले गङ्गाजल में धो कर धूप में सुखाये जाते थे। सूखने पर वे परात और थालों में रख कर भली भांति लिये जाते थे। परात और थाल भी गङ्गाजल से धो लिये जाते थे एवं जो इन सब कामों में नियुक्त रहते थे उन्हें भी गङ्गाजल से हाथ धो लेने पड़ते थे। जितने समय तक यह सब बीनने का काम चलता था उतने समय तक इस कार्य में संलग्न लोग बातें नहीं कर सकते थे, कारण कि बातें करने पर उनके मुँह के थूक के छीटे यज्ञ-सामग्री पर आ पड़ते यदि ऐसा होता तब तो सभी सामग्री अशुद्ध हो जाती। इसीलिये सब लोग चुपचाप मन ही मन यथासाध्य भगवान् का नाम-स्मरण करते हुए यह सब काम करते थे।

क्रमशः जब आहुतियों की संख्या बढ़ने लगी नित्य हवन-सामग्री की

मात्रा भी तदनुरूप बढ़ने लगी। उस समय उन सब चावल, जौ, तिलों को छांटना बीनना एक विराट् काम हो जाता था। क्योंकि चावल एवं जौ में धान, गेहूँ, चने, कंकड़ आदि न मालूम क्या क्या रहता था। उन सबको एक एक करके बीन लेना दो चार व्यक्तियों का काम न था। परन्तु श्री माँ की कृपा से किसी बात की कमी नहीं रहती थी। बहुत से नर नारी अपने आप शुद्धभाव से यह काम करने आते थे। बहुत सी स्त्रियां ये सब वस्तुएँ अपने घर ले जातीं एवं वहां यथासाध्य शुद्धरीति से इन्हें छांट बीन कर आश्रम में दे जाती थीं। कन्यापीठ की कन्याएँ भी अपने दैनिक काम से निवृत्त होकर अवसर के समय यह सब काम करती थीं। बहुधा होताओं में से कोई कोई होता तथा जो आश्रम तथा यज्ञ देखने के लिए आते थे उनमें से भी कुछ लोग इन सब कामों में लग जाते थे। इन सब वस्तुओं को बीनते समय मन ही मन भगवान् का नाम स्मरण करना होगा ऐसा मां का आदेश था। इसके अतिरिक्त माँ उपदेश देती थीं कि यह सब काम भवगान् की सेवा के रूप में हो रहा है इस बात का सर्वदा स्मरण रखना चाहिये। मां कहती थीं, "जो काम आरम्भ करो उसमें एकाग्र रहने की चेष्टा करो।" जिस प्रकार कार्य निर्दोष रूप से सम्पन्न हो जी जान से वैसी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् के निमित्त जो काम किया जाता है वह तो लोगों के दिखाने के लिए नहीं है, व्यर्थ की धारणा लेकर गप्प या तमाशा करने के लिए भी नहीं है। जो काम आरम्भ करो वह जिस तरह साङ्गोपाङ्ग रूप से संपन्न हो केवल उसी ओर मन लगाने की चेष्टा करनी चाहिये। स्मरण रक्खो कि यज्ञेश्वर की कृपा से हम आज इस सेवा कार्य म दीक्षित हुए हैं। भगवान् की कितनी दया है कितनी करुणा है कि उन्होंने हमें यह अधिकार दिया है। यज्ञ के निमित्त जिनके ऊपर जिस किसी कार्य का भार सौंपा गया है उन सबको सोचना चाहिये कि वे उसे सम्पन्न कर केवल यज्ञेश्वर की ही सेवा कर रहे हैं। सदा पवित्र भाव की रक्षा करो और मन में दृढ़ विश्वास रक्खो कि सेवा ही परम धर्म है।"

जब यज्ञ की समाप्ति होने आई तब तिल, जौ, चावल इत्यादि सब मिला कर लगभग डेढ़ मन सामग्री की प्रति दिन आवश्यकता होती थी,– तिल ॥ऽ८, जौ ।ऽ४ और चावल ऽ७ के अतिरिक्त चीनी घी, पंचमेवे आदि रहते थे। प्रतिदिन सन्ध्या समय होता लोग उनका निरीक्षण कर यज्ञशाला में पवित्रता से रख आते थे। दूसरे दिन होम के लिए उनमें भली भाँति घी मिला कर प्रत्येक होता के हवनसामग्री रखने के काष्ठ

अथवा पीतल के पात्र में वे पृथक् पृथक् रख दिये जाते थे। यज्ञकुण्ड के ऊपर महीन छेद वाला एक तांबे का वर्तन घी से भर कर रक्खा रहता था और उसमें से रात दिन बूंद बूंद करके घी अखण्डरूप से यज्ञाग्नि में टपकता रहता था; उस घी की सुगन्ध से आश्रम सर्वदा ही मँहकता रहता था।

यज्ञ के निमित्त आश्रम में हवन-सामग्री की छंटाई बीनाई का काम जिन दिनों चल रहा था उन दिनों का दृश्य भी बड़ा अद्भुत था। अरुणोदय के साथ ही साथ यज्ञशाला के सामने के चौतरे पर तुरन्त धोये हुए काले तिलों की विशाल शय्या लग जाती थी। चिड़ियों तथा बानरों से उनकी रखवाली करने के लिए कई बालक और बूढ़े हाथ में लाठी लेकर प्रहरी के रूप में खड़े रहते थे। कुछ लोग वहाँ पर चावल, जौ आदि छांटने बीनने के लिए बैठ जाते थे। इसी बीच बगीचे के फूलों के पेड़ों की डालियों पर गौरैयों का एक झुण्ड फुदुक कर कलरव करता हुआ इधर उधर घूमता था और अवसर ढूढता था कि कब भण्डार का दरवाजा खुले, कब चौतरे के प्रहरी अन्यमनस्क हों। वे सोचते थे कि यह सारा भण्डार हमारा ही है। कभी कभी वे यज्ञशाला के अन्दर भी घुसने की चेष्टा करते थे। इसीलिए यज्ञशाला को चारों ओर तार की जाली से घेर दी गई थी। दैनिक यज्ञ की समाप्ति होने पर जो सब हवन-सामग्री इधर उधर गिरी रहती थी वह एक वर्तन में उठाकर उन सब चिड़ियों को दी जाती थी। वे सब बड़े चाव के साथ उसे चुग चुग कर खाते थे। कोई भी वस्तु व्यर्थ न जाय, इस ओर ध्यान रखने के लिए माँ ने हम लोगों को सतर्क कर रक्खा था।

चिड़ियों के सिवा आश्रम की छत तथा चहारदीवारी के ऊपर बन्दर दृष्टिगोचर होते रहते थे। वे कभी अकेले दुकेले, कभी दल बाँध कर आते थे। उनके आने पर सभी त्रस्त हो उठते थे, क्योंकि चारों ओर खाद्य सामग्री बिखरी हुई देख कर खाली हाथ वापस जाना अपने लिए लज्जा की बात समझना स्वाभाविक था। सतर्कता के कारण हवन-सामग्री में से अपना भाग न हथिया सकने पर भी आश्रमवासियों के खाद्य पदार्थों से कुछ न कुछ लिये बिना वे टस से मस नहीं होते थे। जिस दिन वह भी नहीं मिल सकता उस दिन अवसर पाते ही आश्रमवासियों के कपड़े आदि फाड़ कर अथवा दूसरे प्रकार की हानि कर वे अपना तीव्र असंतोष व्यक्त कर जाते थे। कन्या पीठ के ऊपर ही उनकी कृपा दृष्टि
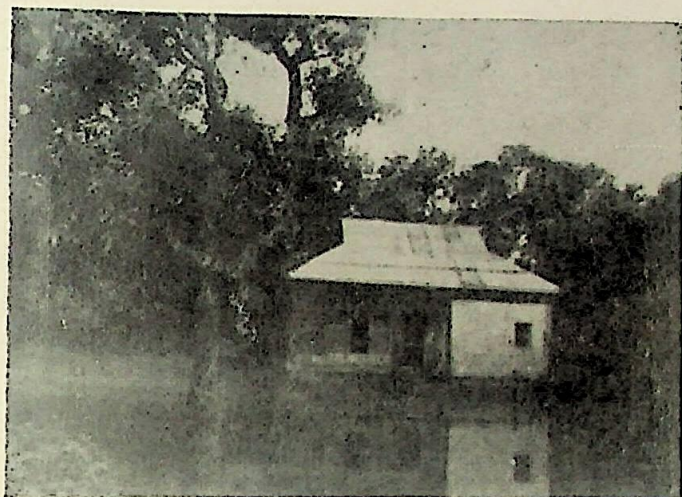
सिद्धेश्वरी आश्रम, ढाका
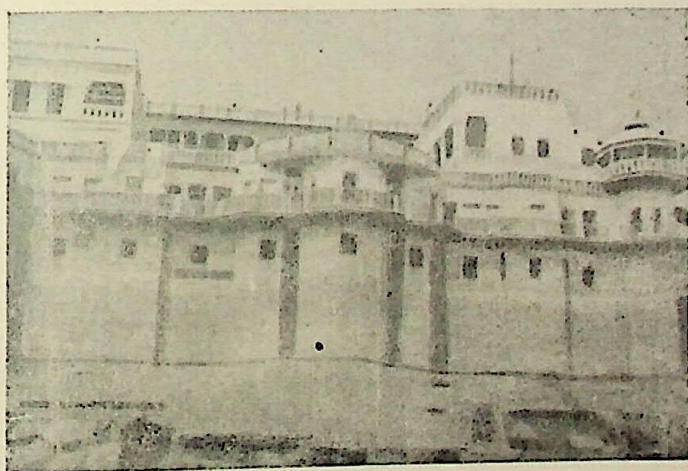
गङ्गा जी से काशी आश्रम का दृश्य

विशेष रहती थी, क्योंकि वहाँ मुंह बना कर दांत दिखा कर जितनी सरलता से मतलब सिद्ध हो जाता था अन्यत्र वह संभव न था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि विशुद्ध गोघृत से इस यज्ञ की समाप्ति हो ऐसा माँ का संकेत मुझे प्राप्त हुआ था एवं मैंने भी संकल्प किया था कि यथाशक्ति गोधृत संग्रह करने का प्रयत्न करूंगी। इतना बड़ा यज्ञ आरंभ हुआ था केवल पाँच सेर घी का संबल बांध कर। यह मानो सीप से समुद्र सींचने के समान एक मखौल ही था। यज्ञ के आरंभ में कन्हैया लाल जी ने अपने पलाश-वन से यज्ञ के लिए लकड़ियाँ दी थीं यह बात एक बार लिखी जा चुकी है। उनका पलाश-वन विन्ध्याचल के निकट ही कहीं था। वहाँ लकड़ियों का संग्रह करते समय इस अंचल में उत्तम गोधृत मिलता है ऐसी खबर लगी। साधन ब्रह्मचारी को वहाँ भेजा। वह पहली बार तो कुछ इकट्ठा कर सका था। पीछे घी बेचने वालों ने हमारी आवश्यकता सुयोग पाकर घी का मूल्य इतना बढ़ा दिया कि फिर वहाँ से घी का संग्रह करना हमारे लिए संभव नहीं हुआ।

इसके बाद धीरे धीरे सांतरागाछी के जमींदार श्री सुकुमार भट्टाचार्य और बरहमपुर के जमींदार श्री रामरञ्जन चौधरी जी के यहाँ से थोड़ा बहुत घी मिला। इस तरह अनेक स्थानों से कुछ कुछ घी का संग्रह कर यज्ञ का काम निभा जा रहा था। यह रही यज्ञारम्भ की प्रारम्भिक अवस्था की बात। उन दिनों घृत की दैनिक आवश्यकता बहुत अधिक न थी। फिर भी उसके लिए मेरे मन में एक विशेष चिन्ता सदा ही जागरूक रहती थी। विशुद्ध घी कहां मिलता है यह खबर लगना भी कठिन था। जहाँ वह मिलता है ऐसी खबर मुझे मिलती वहीं से कुछ न कुछ संग्रह कर रख छोड़ती थी। इसी प्रकार किसी न किसी तरह यज्ञेश्वर अपना काम चलाते गये।

पश्चिम अञ्चल में गोघृत अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिए मैंने ढाका से घी मंगाने की व्यवस्था की एवं एक बार वहाँ से कुछ घी मंगाया भी। किन्तु उसके बाद ही बंगाल में विशेषतः ढाका में हिन्दू मुसलमानों के दंगे का तांता बँध गया। उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ से घी मँगाना संभव न रहा। इधर से मुझे खबर मिली कि संचित घी समाप्त हो चुका है। कहाँ उत्तम घी प्राप्त हो इस चिन्ता से मैं अधीर हो उठी। मैंने निश्चय किया कि कलकत्ता जाकर एक बार प्रयत्न कर देखें। कलकत्ते पहुँच कर मैंने यशोहर, पवना आदि स्थानों से घृत संग्रह

करने का प्रयत्न किया । उस समय रुपये पैसों की भी खूब तंगी चल रही थी । इस कारण यह प्रयत्न भी विशेष सफल नहीं हुआ ।

एक दिन कलकत्ता आश्रम में माँ के कमरे में बैठकर मैं सोचने लगी कि मुझे कलकत्ता आये ८।१० दिन हो गये हैं, इस बीच में धन और घृत दोनों में से किसी का भी मैं प्रवन्ध कर सकी । दोनों में से किसी एक का प्रवन्ध करना तो आवश्यक है । यह सोचकर सन्ध्या के समय घृत की खोज में बाहर निकल पड़ी, मानो रास्ते में कोई मेरे लिये भी हाथ में लेकर खड़ा हो । उस समय की बात का स्मरण होने पर हँसी आती है । क्या मैं पागल तो नहीं हो गई ! और माँ ने ही क्या अघटित घटना की ।

अस्तु, कुछ देर रास्ते रास्ते भटक कर रात्रि में जब मैं आश्रम में लौटी तब मैंने भाई श्री शशधर, भाई श्री मनोरञ्जन जी एवं माँ के अन्यान्य भक्तों को घी के सम्बन्ध में चर्चा करते सुना । अवश्य उनकी यह चर्चा अपनी व्यक्तिगत निर्धनता के सम्बन्ध में थी । इस चर्चा के प्रसंग में भाई श्री शशधर जी से मैंने सुना कि उनके एक आत्मीय पवना में घी का व्यवसाय कर रहे हैं एवं उनके पास अच्छा घी मिलता है । यह संवाद पाते ही मैंने उसी समय एक आदमी यहाँ भेज दिया । क्योंकि ३।४ दिनों के भीतर ही मुझे घी का संचय कर काशी लौट आना था । अस्तु, यज्ञेश्वर की कृपा से पवना से कई टीन, कुछ टाकी से, कुछ रामनिरञ्जन बाबू के यहाँ से—इस तरह कुल आठ टीन घी का संग्रह हुआ । मैंने सोचा कि चलो कुछ दिनो के लिये निश्चिन्त हुई । इसके अनन्तर भी भाई शशधर जी के आत्मीय की दूकान से कभी कभी आवश्यकतानुसार ऊंचे मूल्य में (९) रु० सेर) घी खरीदने को मुझे बाध्य होना पड़ा था, क्योंकि आवश्यकता तो बाजार की दर नहीं देखती । इस तरह कार्य चला जा रहा था । चारों ओर आर्थिक तंगी से खींचातानी चल रही थी, किस तरह से क्या करूंगी यह भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था ।

देखते देखते दुर्गापूजा आ पहुँची । इस बार कलकत्ते के भक्तगण विशेष आग्रह कर मां को पूजा के समय कलकत्ता ले गये । पहले एक बार जयकिशन झांझरिया ने माँ को बेलडांगा ले जाने के लिए अत्यन्त अनुरोध किया था । मां को कलकत्ते में पाकर इस बार भी वह अत्यन्त आग्रह दिखलाने लगा । मां ने कहा, "योगायोग होगा तो चल चलूंगी ।" दुर्गापूजा के बाद बेलडांगा जाना हुआ । जहां हम जाते वहीं काशी के

यज्ञ की चर्चा चलती। बेलडांगा में भी यज्ञ की चर्चा चली। जयकिशन ने भी यज्ञ का भी यज्ञ का आद्योपांत विवरण सुनकर मुझसे कहा, "मैं यथाशक्ति सहायता करूंगा, तुम होताओं की संख्या बढ़ा दो।" मैंने उससे कहा, "एक बार होताओं की संख्या बढ़ाने पर फिर वह घटाई नहीं जायगी।" उसने अत्यन्त आग्रह दिखाकर कहा, "तुम बढ़ाओ तो सही-मैं यज्ञ का सारा व्ययभार उठाने का यथाशक्ति करूंगा।" उसके कथनानुसार चार होता और बढ़ाकर कुल सात करने की बात स्थिर हुई। हिसाब लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि मासिक व्यय बहुत बढ़ जायगा किन्तु जयकिशन ने इस प्रकार आग्रह व्यक्त किया कि जिससे प्रोत्साहित होकर मैंने होताओं की संख्या बढ़ाने का उत्साह किया।

जयकिशन ने यज्ञ के लिए घी तथा अन्यान्य सामग्री खरीदने के लिए पहले एकमुश्त ५०००) रुपये दिये एवं 'यज्ञ का सारा व्यय भार मैं उठाऊँगा' यों मां से अपनी इच्छा प्रकट की। क्रमशः दो बार और भी उसने कुल ४०००) रुपये दिये थे। कुल मिला कर ९०००) रुपये देने के बाद उसने हम लोगों को सूचित किया कि मैं और आर्थिक सहायता नहीं कर सकूंगा। समय के फेर से उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी डांवाडोल हो उठी थी कि उसमें फिर यज्ञ के लिए धन व्यय करने की क्षमता नहीं रही। जयकिशन का यह वृत्तान्त सुन कर मैं फिर अगाध जल में गिर पड़ी। तीन होताओं का ही व्यय बड़े कष्ट से चल रहा था, अब वे बढ़कर सात हो गये। होताओं की संख्या अब घटाई भी नहीं जा सकती। अब उपाय क्या? किन्तु विचार करने का समय ही कहाँ था? जिस प्रकार से भी होगा यज्ञेश्वर इसकी व्यवस्था करेंगे इस प्रकार मन को आश्वासन देने की उस समय मैंने चेष्टा की।

उस समय यज्ञ-कार्य के सम्बन्ध में मुझे विशेष चिन्तित देखकर मां ने कहा था, "तू चिन्ता क्यों करती है? यज्ञेश्वर के ऊपर निर्भर होकर अपना कर्त्तव्य यथाशक्ति किये जा। कर्त्तव्य में यदि त्रुटि नहीं आई तो कार्य सम्पन्न हुआ ही है। चिन्ता किस बात की? फिर यदि ऐसी ही अवस्था रही कि तुम्हारे हाथ में कुछ भी नहीं तो एक काम करना, इस शरीर की सेवा के लिए इस आश्रम में आलमारी आदि जो सब वस्तुएँ लोगों ने दी हैं उन्हें बेच कर यज्ञ में लगा देना। फिर जिन्हें तुम अपनी समझती हो ऐसी जो भी वस्तुएँ हैं उन सभी को इस काम में लगा कर एक वस्त्र धारण कर यज्ञेश्वर के निकट यों निवेदन करना—"हे यज्ञेश्वर, जो तुमने कराया यथाशक्ति इस शरीर से जितना सम्भव था तुम्हारा

काम किया। अब अपना काम तुम्हीं कर लो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" क्या यह नहीं कर सकेगी ?" हंसते-हंसते मां ने यह कह कर मुझे समझाया था। मां ने उस दिन यह भी कहा था, "यज्ञेश्वर यदि तुम्हारी सदिच्छा तुम्हारे मन के अनुसार पूर्ण करें तो तुम्हें चिन्ता ही क्या है ? कभी भी उनके सिवा दूसरे किसी का चिन्तन न करो। यदि चिन्तन करना है तो उन्हीं का करो जिनका चिन्तन करने पर मनोरथ पूर्ण होते हैं। वे अपने पक्के सेवक की वासना अपूर्ण नहीं, रहने देते, क्योंकि वें स्वयं पूर्ण हैं।" मां की ये सब बाते सुनकर बहुधा मन में आता कि मां साङ्गोपाङ्ग रूप से ही इस यज्ञ को हम लोगों के द्वारा पूर्ण करा लेंगी। वर्त्तमान समय में हम लोगों को जो परीक्षा में डाला है वह केवल हम लोगों के कर्मों का क्षय करने के लिए। जब हम लोग सर्वथा उन पर निर्भर हो सकेंगे, जब वे ही हमारे एकमात्र अवलम्बन हैं यह भीतर ही भीतर समझ लेंगे तभी तुरन्त सब समस्याएँ सुलझ जायेंगी।

एक बार यह भी प्रश्न उठा कि किन्हीं-किन्हीं महन्तों के पास प्रचुर धन है उनको इस यज्ञ के सम्बन्ध में सूचित करना चाहिये या नहीं। क्योंकि यह यज्ञ तो किसी एक व्यक्ति का है नहीं। यह सभी का यज्ञ है। इसका संकल्प हुआ है सकल ब्रह्माण्ड के इष्टदेव की प्रीति। मेरी यह बात सुन कर मां ने कहा था, "तुम एक विशेष सदनुष्ठान कर रही हो, इसलिए इसमें उपस्थित वस्तुओं का अभाव, जिनके पास वह प्रचुर मात्रा में हैं ऐसा सोचती हो, उनसे कह कर लेना चाहती हो क्या ? मैंने उत्तर दिया था, "मेरे मन में यह भाव क्षणिक रूप से आया भी तो क्या हुआ। तुम तो सदा ही कहती हो कि घर तो केवल एक ही है,—एक घर का ही तो काम है। किन्तु सभी इस महान् भाव को क्या उपयोग में ला सकते हैं ? तुम्हारे राज्य में तो किसी को भी असन्तुष्ट कर अथवा किसी के ऊपर दबाव डाल कर कुछ लेना निषिद्ध है। कोई लज्जा से अथवा विवशता से कुछ दे यह भी मालूम होता है तुम्हारी इच्छा नहीं है। मैं भी यह नहीं चाहती। फिर भी मैं सोचती हूँ कि यह यज्ञ जब सभी का है तब एक बार इसकी वर्तमान अवस्था से सबको परिचित करा दूँ। पीछे कोई यह न कह सके कि उसकी ऐसी अवस्था की खबर हमें लगती तो हम व्यवस्था कर सकते।" मां के साथ कभी कभी इस प्रकार की चर्चा होती थी। मैं जो भी कहती थी उसके उत्तर में मां कहती थीं, "जो हो जाता है वही ठीक है।" बहुत प्रयत्न करके भी मैं मां को अपनी चिन्ता का अंश न दे सकी। उनका सदा ही वही निश्चिन्त और सदा-

नन्दमय भाव रहा। इन सब बातचीतों के परिणामस्वरूप बल्कि मैं ही धीरे-धीरे निश्चिन्तता की ओर बढ़ने लगी।

अहमदाबाद के भक्त मां को अहमदाबाद ले जाने के लिए बहुत दिनों से प्रार्थना कर रहे थे। किन्तु उस ओर जाना नहीं हुआ था। जयकिशन भी मां को बम्बई ले जाने के लिए बहुत दिनों से आग्रह कर रहा था। इस बार भी वह विशेष रूप से मां के पीछे पड़ा। उसके आग्रह से इस बार मां बम्बई जाने को सहमत हो गईं। कुछ दिन बम्बई रह कर नासिक आदि स्थानों में घूम आईं। बम्बई पहुँचते ही मुकुन्दभाई तथा कान्तिभाई मुन्सा मां को अहमदाबाद ले जाने के लिए बहुत अधिक आग्रह करने लगे। उस वक्त यह निश्चय हुआ कि मां कुछ दिन बाद अहमदाबाद जायँगी।

बम्बई में माँ मूलजी भाई के निवास स्थान में ठहरी थी। नन्दूभाई आकर वहां से मां को अपने निवास स्थान में ले गया। वहां पर बातचीत के सिलसिले में नन्दूभाई ने स्वयं कहा कि मेरी घी का कारबार है। यह बात सुन कर मैं अवाक् हो गई। मैंने सोचा कि मालूम होता है यज्ञेश्वर ही कृपा कर मुझे यहां ले आये हैं, क्योंकि कहां विशुद्ध घी प्राप्त हो इस चिन्ता से मैं व्याकुल हो उठी थी। हम लोग एक शिक्षा सदा से ही मां के निकट पाते आ रहे हैं। मां सर्वदा ही हम लोगों से भगवान् के ऊपर निर्भर रहने को कहती हैं। इस यज्ञकार्य में भी मां ने हम लोगों से कहा था, "यदि यज्ञ के सम्बन्ध में कोई प्रश्न उठे तो समझना चाहिये कि वह यज्ञेश्वर के संकेत से ही उपस्थित हुआ एवं जो यज्ञ सम्बन्धी जितनी बातें जानना चाहे उससे केवल उतनी ही कहो। कोई कुछ दे इस इच्छा से काम न करना। अमुक के निकट इस तरह की बातें करने से कुछ प्राप्ति की सुविधा होगी ऐसा भाव भी कदापि न रक्खो एवं इस तरह की बातें भी न करो। अपनी बुद्धि को निरन्तर भगवच्चिन्तन के अनुकूल रक्खो, अन्य किसी विषय में नहीं। उन्होंने कहाँ क्या व्यवस्था की है, वे कब किस रूप में अपने को व्यक्त करेंगे, यह कौन जाने? उनके ऊपर निर्भर रह कर काम करते जाओ।"

पहले कभी एक बार एक आदमी ने मां से कहा था, "मां आप जरा उधर निकल जाती तो इधर हमें सुविधा प्राप्त होती।" मां ने हँस कर कहा था, "अच्छा, इसीलिए जाने को कहते हो? इस शरीर का तो ऐसा होता नहीं।" उसके बाद वास्तव में ही ऐसी घटना घटी कि उस बार

फिर उधर जाना ही नहीं हुआ। इन सब उपदेशों के कारण हम पीछे पड़कर किसी से भी यज्ञ के सम्बन्ध में विस्तार के साथ कुछ भी नहीं कहते थे। जो जितना जानना चाहते थे उनसे केवल उतना ही कहा जाता था।

अस्तु, यज्ञ के फण्ड के कुछ थोड़े से रुपये उस समय भी मेरे पास थे। इन रुपयों का यहां से कुछ घी ले जाऊँगी ऐसा मंने मन में विचार किया। नन्दूभाई के निकट यह प्रस्ताव रखने पर उसने अपनी ओर से ही दो टीन घी मुझे दे दिया और उसका मूल्य नहीं लिया। नन्दूभाई ने यह भी कहा था कि यदि सुविधा हुई तो मैं कभी कभी घी भेज दूँगा। मूलजी भाई भी उस समय वहां उपस्थित था। उसने भी इस विषय में मुझे पूर्ण आश्वासन दिया था। बाद में मूलजी भाई तथा नन्दूभाई—दोनों ने यथेष्ट घी भेज कर हमारी सहायता की थी एवं उसका सारा व्यय उन्होंने स्वयं ही उठाया था। अन्यान्य स्थानों से जो धन मिलता था उससे यज्ञसम्बन्धो अन्यान्य व्ययों का निर्वाह होता था।

कलकत्ते से श्री युक्त चारु घोष मासिक ३०० रु० की सहायता कर रहे थे। वे कुछ दिन इस प्रकार चला कर पीछे अर्थाभाव के कारण सहायता बन्द करने को बाध्य हुए। कुछ लोग दस रुपये, पांच रुपये, दो रुपये, एक रुपये को भी सहायता कर रहे थे। मासिक सहायता के अतिरिक्त अनियमित रूप से भी दो चार रुपयों से लेकर पचास सौ रुपये भी कभी कभी मिल जाते थे। कुछ लोग यज्ञ की सामग्री भी कुछ कुछ खरीद कर दे जाते थे। इस प्रकार यज्ञेश्वर की कृपा से दैनिक व्यय चला जा रहा था।

जयकिशन ने कुछ दिन मां को समुद्र के तट पर ठहराया। उसके बाद कान्तिभाई और मुकुन्दभाई आकर मां को अहमदाबाद ले गये। अहमदाबाद में एक दिन वे हम लोगों को एक जगह घूमाने ले गये। वहां जाकर देखा वह एक विशाल डेयरी (Dairy) है। वहां गोघृत तैयार होता था। कान्तिभाई और मुकुन्दभाई—दोनों ही को यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ कुछ जानकारी थी एवं गोघृत के लिए मैं इतस्ततः चारों ओर भटकती रही यह भी कुछ कुछ उनके कानों में पड़ चुका था। डेयरी जो हमने देखी उसका विस्तार लगभग चार मील का था। वहां हमें एक भी भैंस नहीं दिखाई दी। सब गोएँ हृष्ट-पुष्ट और अतिसुन्दर थीं। वे सब बहुत अधिक दूध देती थीं और उससे यथेष्ट परिमाण में विशुद्ध घी बनता था। गो-सेवा का प्रबन्ध भी बहुत ही सराहनीय था। वहां की सभी

वस्तुएँ साफ सुथरी थीं मानो लक्ष्मी अचला होकर वहां विराजमान हों। यह देख कर मेरी छाती पर से एक भारी बोझ उतर गया। मैंने सुख की सांस ली। चलो, विशुद्ध गोघृत प्राप्ति का एक स्थान तो मिल गया। यज्ञ के लिए उस समय भी प्रचुर घी की आवश्यकता थी। कोटि आहुतियों का अर्धांश भी पूर्ण नहीं हुआ था। यद्यपि उस समय घी खरीदने के लिए हमारे पास पूंजी नहीं थी फिर भी यहां पर विशुद्ध घी मिलता है एवं आवश्यकतानुसार हम यहाँ से यथेष्ट मात्रा में घी खरीद सकेंगे यह सब विचार कर मेरा हृदय आनन्द और कृतज्ञता से भर उठा। मैं मन ही मन माँ के श्री चरणों में प्रणाम करने लगी।

अहमदाबाद में कान्तिभाई और मुकुन्दभाई के साथ वार्तालाप के प्रसङ्ग में यज्ञ की बात भी उठी थी। उन्होंने आग्रह के साथ यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले सब कृत्यों की एक एक करके जानकारी प्राप्त कर ली। यदि कोटि आहुतियाँ भलीभाँति विधि-विधान से पूर्ण करनी हो तो कितना व्यय लग सकता है सभी बातें सीढ़ी दर सीढ़ी पूछ कर जान लीं। बात बात में मैंने उन लोगों से कहा था, "तीन आदमियों को लेकर जो यज्ञ आरम्भ किया था वही अच्छा था उस स्थिति से भले ही नौ वर्षों में यज्ञ समाप्त होता। इस समय होताओं की संख्या सात कर के मैं एक विचित्र झंझट में फँस गई हूँ। इतने दिनों तक यज्ञेश्वर ने मेरे मुँह से जिनके निकट इस यज्ञ की बात प्रकट कराई है उन्होंने ही अबतक यज्ञ की व्यवस्था की है। इस समय जब यज्ञेश्वर ने व्यय इस तरह बढ़ा दिया है मैं सोचती हूँ कि हमें अपनी ओर से भी विशेष प्रयत्न करना चाहिये. यदि हम प्रयत्न न करें तो संभव है यह हमारी त्रुटि रह जाय। यज्ञ के लिए जितनी सामग्री संचित है उससे एक मास या डेढ़ मास और चल जायगा। यदि अभी से चेष्टा न की जायगी तो आगे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। इतने दिनों तक तो इन सब विषयों में किसी के साथ परामर्श करने की सुविधा नहीं रही। तुम्हारे साथ ही यह पहला सुयोग मिला है। मेरे मन में जो आया उसे मैंने स्पष्टतया आप लोगों से कह दिया है। इसके अतिरिक्त एक और बात मेरे मन में आ रही है, वह यह है कि इस यज्ञ के लिए सबके दरवाजे जाकर विशेष रूप से चेष्टा करना मेरे लिए उचित होगा या नहीं ? यदि तुम लोगों से कुछ न कह कर मैं इस काम में लगूं तो संभव है तुम लोग यह कह कर मुझे दोषी बनाओ कि हमसे कुछ पूछे और परामर्श लिये बिना ही तुमने इतना बड़ा गुरुतर कार्य पूर्णरूप से अपने

ऊपर क्यों लिया। जो माँ का काम है उसको जानने का अधिकार माँ की सभी सन्तानों को है एवं इस सम्बन्ध में उनका कर्त्तव्य भी है। ये सब बातें मेरे मन में आईं अतएव मैंने तुमसे कही हैं।" उन लोगों ने मेरी बातें सुन कर कहा, "दीदी, तुम इस विषय में कोई चिन्ता मत करो एवं इसके सम्बन्ध में तुम कहीं बाहर भी मत जाओ। देखो, हम क्या कर सकते हैं। माँ का काम माँ ही करावेंगी। जब जिस वस्तु की आवश्यकता पड़े उसके सम्बन्ध में हमको खबर देना।" उन्होंने उक्त डेयरी से बीच बीच में घी भिजवा देने को कहा। ये सब बातचीत होने के बाद मैंने सब बातें माँ से कहीं। कान्तिभाई आदि ने भी मालूम होता है, इस सम्बन्ध में माँ से कुछ कहा था। चलो, मैं कुछ निश्चित हुई।

कुछ दिन बाद माँ अहमदाबाद से भीमपुरा (नर्मदा) गईं एवं वहां से फिर काशी लौट आईं। कान्तिभाई ने हमारे साथ ही कुछ घी भेज दिया था। उससे कई दिन खूब निश्चिन्त रूप से बीते। मैंने भी सोचा, "हे यज्ञेश्वर, तुमने मुझे इतनी विघ्नबाधाओं, दुश्चिन्ताओं के भीतर डालकर इतने दिनों के बाद निश्चित किया। मुझे तो ऐसी आशा नहीं थी! जो तुम्हारे काम में केवल तुम्हारे ऊपर निर्भर होकर रहता है, मालूम होता है, तुम उसे इसी तरह निश्चिन्त करते हो। तुम्हारी करुणा धन्य है।" प्राणों के पूर्ण वेग और कृतज्ञता से पूर्वोक्त विचार मेरे मन में आया था। मेरी इस दुश्चिन्ता पर यज्ञेश्वर अवश्य ही अदृश्य मुख से हँसे होंगे।

गुजरात में बहुत समय तक वृष्टि नहीं हुई इस कारण उस डेयरी की फिर अधिक दिनों तक रक्षा न हो सकी, वह उठा दी गई। यह खबर जिस समय मुझे मिली उस समय फिर मैं दुश्चिन्ता-सागर में डूब गई। मैंने सोचा, "यज्ञेश्वर ने यह क्या किया? मैं उस तरह का विशुद्ध गो घृत अब कहाँ पाऊँगी?" किन्तु कान्तिभाई और मुकुन्दभाई ने मुझे अधिक दिनों तक इस दुश्चिन्ता में रहने नहीं दिया, उन्होंने स्वयं ही छोटी सी डेयरी खोल दी। देश में गउओं के लिए घास की नितान्त कमी देख कर दूर दूर देशों से घास तथा खरी का प्रबन्ध किया। उनका सेवा-भाव धन्य है। यज्ञेश्वर के प्रति उनका प्रबल अनुराग तथा अनन्य साधारण सेवा-भाव देख कर मैं स्तब्ध रह गई। इसीलिए मालूम होता है कि गीता में कहा गया है

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।" मुकुन्दभाई के सम्बन्ध में और एक बात का यहाँ उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकती। सभी कामों में उसका निराभिमानता का भाव मूर्तिमान् हो उठता था। उसके मां के लिए जब जब रुपये भेजे थे तब तब लिखा था "आनन्दमयी रुपये भेज रही है आनन्दमयी के पास।"

इसके बाद से ही इस डेयरी में जो घी तयार होता था उसे वे नाना उपायों से काशी पहुँचा देने लगे। यह घी भेजना भी उस समय एक बड़ी भारी समस्या के रूप में सामने खड़ा हुआ। इसके लिए सरकारी अनुमति-पत्र आदि न जाने कितने बखेड़ों की आवश्यकता पड़ती थी। बहुधा हवाई जहाज से भी घी यहाँ भेजना पड़ा। यहाँ इसके पहुँचने में यदि तनिक विलम्ब होता तो मैं इधर-उधर से थोड़ा बहुत घी का संग्रह कर काम चलाती थी। अस्तु, कान्तिभाई और मुकुन्दभाई के प्रयत्न के कारण कुछ ही दिनों में हमारी घी की समस्या हल हो गई थी। अन्त में हम ऐसी स्थिति पर पहुँच गये कि पूर्णाहुति के समय समागत साधु-संत महात्माओं के लिए लगभग डेढ़ मास तक हम केवल गोघृत से ही इफ़रात के साथ सेवा व्यवस्था कर सके थे।

कान्तिभाई तथा मुकुन्दभाई ने हमें केवल घृत के ही झंझट से निश्चिन्त किया सो बात नहीं, उन्होंने यज्ञ का सारा व्यय स्वयं उठाकर हमें सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर दिया था। उनकी सहायता के अनन्तर यज्ञ विशेष सुविधा और आनन्द के साथ चलने लगा। उस समय मेरे मनमें यही आता कि जयकिशन ने होताओं की संख्या बढ़ाकर तथा पीछे आर्थिक सहायता बन्द कर हमारा उपकार हो किया। हाँ, उस समय तो मैंने अपने को बड़ी भारी विपत्ति में फंसी हूं समझी थी। किन्तु वह यदि इस प्रकार होताओं की संख्या न बढ़ा देता तो यह यज्ञ तीन वर्षों में कदापि पूर्ण न होता। यज्ञेश्वर ने ये तीन वर्षों में यज्ञ समाप्त करें, इसीलिए हमें इस व्यवस्था में डाला था। हमारी दुश्चिन्ता और दुर्भावना के अन्दर ही जो उन्होंने अपनी कृपा प्रकट करने की व्यवस्था कर रक्खी थी उसे हम लोग अपनी जीवबुद्धि और अंधदृष्टि से उस समय नहीं जान सके थे। किन्तु इतने दिनों के बाद इसका अनुभव कर बार-बार उनके श्रीचरणों में हमारा मस्तक नत हो रहा है।

एक बार कान्तिभाई और एक बार मुकुन्दभाई काशी आकर यज्ञ देख गये। उन्होंने होताओं की संख्या में और वृद्धि करने को कहा। यह

है यज्ञ के अन्तिम वर्ष की बात। उसी वर्ष पौष संक्रान्ति के दिन यज्ञ की समाप्ति करनी हो तो प्रतिदिन कितनी आहुतियाँ पड़नी चाहिये इसका हिसाब लगाया गया। होताओं की संख्या बढ़ा दी गई एवं शास्त्रोक्त विधि के अनुसार तर्पण, मार्जन आदि कृत्य उसी समय से आरम्भ हुए।

यज्ञ के आचार्य श्री भाई बटुक जी से पूछने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस यज्ञ के अङ्गरूप में ब्राह्मण-भोजन भी आवश्यक है। भाई श्री बटुक जी ने कहा था कि पूर्ण कल्प में एक कोटि आहुतियों के लिए दस हजार ब्राह्मण भोजन कराने की विधि है। यदि ऐसा न हो सके तो गौण-कल्प में एक हजार ब्राह्मण-भोजन कराने से भी काम चल जायगा। कान्ति-भाई से यज्ञीय ब्राह्मण-भोजन के विषय में पूछा गया तो उसने कहा, "मां जो कहेंगी वही होगा"। संवत् २००५ फाल्गुन पूर्णिमा के अवसर पर श्री हरि बाबा के अनुरोध से श्री मां वृंदावन गईं थी। इधर प्रतिवर्ष हरि बाबा श्री महाप्रभु का जन्मोत्सव मनाते हैं एवं इस उपलक्ष्य में वे गत कई वर्षों से मां को अपने यहाँ ले जाते हैं। इस बार उन्होंने यह उत्सव वृन्दावन में मनाया था, इसलिए मां को भी वृन्दावन ले गये थे। इस इस अवसर पर कान्तिभाई और मुकुन्दभाई थोड़े समय के लिए मां के दर्शनार्थ आये, फिर ब्राह्मण भोजन की बात छिड़ी। कान्तिभाई और मुकुन्दभाई दोनों ने ही कहा था कि मां जो कहेंगी वही होगा। यह मैंने मां से कहा, "दस हजार ब्राह्मणों के भोजन का खर्च तो कम नहीं है, ये यज्ञ के लिए इतना कर रहे हैं तब क्या गौण कल्प में एक हजार ब्राह्मण भोजन कराने का ही निश्चय करें। उस समय यही स्थिर हुआ कि एक हजार ब्राह्मण-भोजन का ही संकल्प में रहे। उसके बाद जैसा होगा देखा जायगा। ये सब बातें सुनकर कान्तिभाई और मुकुन्दभाई चले गये।

२००६ को श्री मां के जन्मोत्सव का आयोजन देहरादून के भक्तों ने किशनपुर आश्रम में किया था। उस अवसर पर सेवाजी ने भी (श्री मती सारदा शर्मा ने भी) भागवत सप्ताह का पारायण किया। इसके उपलक्ष्य में खन्ना के श्री त्रिवेणी पुरी जी, हरि बाबा, अवधूत जी, अखण्डानन्द जी, चक्रपाणि जी, शरणानन्द जी, स्वामी रामदेवानन्द आदि महात्मा, सोलन के राजा साहब, डा० पन्नालाल आदि गण्यमान्य सज्जन किशन-पुर आश्रम में सम्मिलित हुए थे। मैंने इन सज्जनों से पूर्णाहुति के समय काशी आश्रम में उपस्थित होने की प्रार्थना की तो सभी ने सहर्ष सहमति प्रकट की। जन्मोत्सव के अवसर पर कान्तिभाई मुन्सा भी देहरादून आये थे उस समय उनका स्वास्थ्य विशेष अच्छा न था। हाथ में सर्वदा

ही तीव्र वेदना रहती थी। चिकित्सा आदि और औषध आदि से कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था। उसके अतिरिक्त उस समय उसकी कुछ पारिवारिक असुविधाएँ भी चल रही थीं। तथापि कान्तिभाई उपस्थित था, इसलिए इस बार भी ब्राह्मण-भोजन के विषय में पुन: विचार विमर्श हुआ किन्तु उस समय कितने ब्राह्मणों को भोजन कराया जायगा यह निश्चित नहीं हुआ। केवल मेरे ही मन में ऐसा विचार हो रहा था कि यदि दस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता तो उत्तम होता, किन्तु उसके लिए लगभग पचीस हजार रुपये की आवश्यकता थी। इतने रुपयों का प्रबन्ध करना भी कोई सहज काम न था। अस्तु जब कान्तिभाई मां को प्रणाम कर विदा हो गये तब मैंने मां से कहा, "मुकुन्दभाई और कान्तिभाई बार बार कह रहे हैं कि ब्राह्मण-भोजन के विषय में जो मां कहेंगी वही होगा। किन्तु मां, मेरे मनमें सर्वदा हो यह बात आ रही है कि दस हजार ब्राह्मण-भोजन कराने पर ही यज्ञ साङ्गोपाङ्ग होता। आज यदि कान्तिभाई का स्वास्थ्य अच्छा होता तो मैं ही इस विषय में उससे कहती।" यह कहते कहते मैं अपनी आँखों के आँसू रोक न सकी, मां मेरी बात सुनकर कुछ बोलीं नहीं। पहले भी जब एक दिन इस तरह की चर्चा चली थी मां ने कहा था, "उन्होंने (अर्थात् कान्तिभाई और मुकुन्द भाई ने) तो तुम्हारी इतनी अधिक सहायता कर दी। यज्ञेश्वर का जो इच्छा है वही होगा। देख, यज्ञेश्वर क्या करते हैं। तू तो केवल अधिक खर्च के लिए ही कटिबद्ध है।" किन्तु उस दिन मेरे नेत्रों को अश्रुपूर्ण देख कर मां और कुछ नहीं बोलीं।

इससे पहले जब माँ काशी से बाहर गईं तब कह गई थी कि वैशाख के आरम्भ से ही प्रतिदिन एक ब्राह्मण के भोजन की व्यवस्था हुई है। श्रीयुत वैद्यनाथ शास्त्री जी को इसके लिए निमन्त्रण दे रक्खा था। ये एक निष्ठावान् ब्राह्मण, बाल ब्रह्मचारी हैं और हैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण जी के सुपुत्र। हमें खबर मिली कि शास्त्री जी वैशाख मास के आरम्भ से ही प्रतिदिन दोपहर को आश्रम में आकर भोजन कर रहे हैं। माँ के निर्देशानुसार भोजन के पूर्व उनके चरण पखारे जाते और भोजन के पश्चात् दक्षिणा दी जाती थी, शास्त्रीय विधान के अनुसार ही सब कुछ होता था। प्रतिदिन एक ब्राह्मण भोजन की व्यवस्था से मां ने जो भित्ति रची थी उसके ऊपर ही ग्यारह हजार ब्राह्मणों का भोजन पूर्ण होगा यह उस समय किसको ज्ञात था। जिस यज्ञ की एक कोटि आहुतियों से पूर्ति होने वाली थी उसका जैसा तीन

होताओं और पांच सेर गोघृत से मां ने आरम्भ करा दिया था वैसे ही जहाँ पर ग्यारह हजार से भी अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराया गया था उनका मां श्री गणेश हुआ था प्रतिदिन केवल एक ब्राह्मण के भोजन से। धन्य है मां की लीली, हम लोग उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते, फिर भी मां एक बात प्रायः प्रतिदिन ही हम लोगों से कहती थीं, "सत्य-स्वरूप भगवान् सत्य संकल्प को निश्चय ही पूर्ण करते हैं। संकल्प यदि सत्य हो तो कर्म अवश्यक पूर्ण होता है।"

पूर्णाहुति के समय बहुत लोगों के शुभागमन की बात थी। इसलिए कभी कभी मेरे मन में विचार आता कि हम लोगों के पास सेवा करने वाले आदमी कहां हैं? धन-बल भी कहां है? अथवा कोई काम सुचारु रूप से सम्पन्न करने की जो निपुणता होती है वह भी कहां है? इन सब कमियों की ओर यदि किसी बहाने से मैं मां का ध्यान आकृष्ट करती तो मां कहतीं, "सर्वदा ही तो यह शरीर कहता है कि "जो हो जाय वह ठीक है।' तुम चिन्ता क्यों करती हो? यदि सीमा की ओर दृष्टि डालकर कहती हो तो सारा विश्व केवल एक घर ही तो है। इस घर में इस राज्य में क्या नहीं है। वे सब तो तेरे हैं। समझ ले कि हम सब एक परिवार के हैं। हम लोगों का अनिष्ट कौन करेगा? अनिष्ट करने वाला क्या कोई है? इष्ट किसे कहते हैं जानती है? जहां अनिष्ट नहीं होता, जहां अनिष्ट होने की जगह नहीं। एकमात्र इष्ट ही हैं एवं वे विश्व-व्यापक हैं। इसलिए प्रत्येक घर में तुम्हारा सच्चिदानन्द स्वरूप है और वही सुबुद्धि-दाता है. इसलिए प्रत्येक घर में महाधन से धनी तुम्हारे धनवान, लोग है। जिस आकार में जब जहां आविर्भाव होने की आवश्यकता होती है, आविर्भूत होते हैं। प्रयोजन प्रयोजन जो कहती है, जान ले जब जो मिल जाय केवल उसीका प्रयोजन है। फिर जनबल की बात जो तू कहती है, जनबल का अभाव कहाँ है? तेरे मनमें अभाव है इसीलिए तो सब कुछ का अभाव है। एकमात्र वे ही इष्ट हैं ऐसा मान, तब जान सकेगी कि सभी लोग समान हैं। हाँ, तुम लोगों का मान अपमान होने से ही तो अपमान ओर सम्मान हैं। तुम्हारा जो मन है उससे एकमात्र उसको (अर्थात् उनको) मान, ऐसा होने पर तुम्हारा अपमान भाग जायगा एवं एकमात्र सत्य भगवान का प्रादुर्भाव होगा, जो सत्य एवं स्वयंप्रकाश हैं।"

इस प्रकार की बातें तो प्रायः ही माँ से सुनती रहती हूँ, किन्तु उन्हीं को दुहरा कर क्या मन को स्वस्थ रख सकती हूँ। यही तो हमारी

स्वाभाविक दुर्बलता है। श्री माँ ने जैसा जैसा उपदेश दिया है काम भी वैसा ही होते मैंने देखा है। यह जो विराट् यज्ञ सुसम्पन्न हो गया, उसके लिए पहले से हमने क्या प्रवन्ध कर रक्खा था? इस तरह के काम करने में लोग कितनी सामग्री कितना धन और कितना जनबल इकट्ठा करते हैं और लोगों के पास कोई भी बल न था। केवल थीं हमारी माँ। वे ही थीं हमारा बल और महाबल।

बीच बीच में मुझे दस हजार ब्राह्मण भोजन की चर्चा करते देखकर एक दिन माँ ने कहा, "ठीक है, जब इतना आग्रह, इतनी लालसा है तो एक बार प्रयत्न कर देख। यज्ञेश्वर जिस प्रकार जो करायेंगे वही तो होगा। वही तो एकमात्र कर्ता हैं। यज्ञारम्भ के समय तुमने क्या किया था। वह तो समुद्र में कूदने के समान ही हुआ था।" माँ इत्यादि कई बातें कह कर चुप हो गईं, किन्तु उन्हें सुनकर मेरे हृदय में आशा का संचार हुआ। मैंने सोचा माँ की कृपा से यह काम भी सुचारु रूप से ही सम्पन्न हो जायगा। उसी दिन से मैंने प्रयत्न शुरू कर दिया। माँ की उपस्थिति में बहुत से लोगों का समागम हुआ था, उन लोगों में से जो माँ के विशेष भक्त थे, उन्हें एकान्त में बुलाकर मैंने कहा, आगामी पौष संक्रान्ति को सावित्री यज्ञ की पूर्णाहुति होगी। इस यज्ञ के अङ्गरूप से ब्राह्मण भोजन का विधान है—गौण कल्प में एक हजार और मुख्य कल्प में दस हजार। यदि अर्थाभाव वश हम गौण कल्प का आश्रयण करने को बाध्य हों, तो शायद तुम लोग हमसे प्रश्न करो कि यदि हमें पहले ही यह बात ज्ञात होती तो हम मुख्य कल्प करने की चेष्टा करते। इसलिए समय पर तुम लोगों को यह बात जता दी है।" मेरी यह बात सुनकर कुछ लोगों ने सहर्ष कहा, "आजकल समय अच्छा नहीं है इसलिए साहस नहीं होता। यदि समय अच्छा होता तो दस हजार ब्राह्मण भोजन की व्यवस्था हम स्वयं कर डालते। अस्तु, हम सब सम्मिलित रूप से प्रयत्न कर देखेंगे।"

यद्यपि बहुत थोड़े लोगों ने यह बात कही थी तथापि उसका फल सुदूरव्यापी हुआ। जिन्होंने यह बात सुनी वे ही दो, चार, दस ब्राह्मणों के भोजन का खर्च देने लगे। मानो इस महायज्ञ में सहयोग देने का उनको मार्ग मिल गया जो माँ के भक्त न थे, यहाँ तक कि जिन्होंने माँ को देखा तक न था और उनकी बातें भी नहीं सुनी थीं उन्होंने भी इस कार्य में सहर्ष योग दिया। और तो और घर के नोकर चाकर तक दो एक ब्राह्मण भोजन का खर्च दे गये। सभी के अन्दर एक अद्भुत हलचल

देखकर मेरी आँखों में आँसू भर आये। माँ सर्वदा ही कहती हैं कि घर भी यदि कहती है तो सब घर एक ही हैं। यह यज्ञ सभी का है इसका मानो हम प्रत्यक्ष उदाहरण पाने लगे। ऐसी आशा मुझे भी न थी। भगवान् की लीला ऐसी ही अद्भुत है।

किशनपुर में माँ के जन्मोत्सव के समाप्त होने के बाद राजा साहब दुर्गासिंह के आग्रह से हम सोलन गये थे। उस समय वे देवीभागवत का नवाह और प्रदोष व्रत का उद्यापन कर रहे थे। हरिबाबा, अवधूत जी और त्रिवेणीपुरी जी भी उस अवसर पर सोलन गये थे। हम लोग सोलन लगभग १ महीना रहे। उस समय हमने राजा साहब के चरित्र में जो विशेषता देखी उससे हमने उन्हें प्राचीन राजर्षियों के ज्वलन्त प्रतीक के रूप में पहचाना था। उक्त व्रतोद्यापन के निमित्त जो सब यज्ञ, दानादि कृत्य हुए थे वे तो राजोचित थे ही। उनके अतिरिक्त जो सब ब्राह्मण उस यज्ञ में उपस्थित हुए थे उनके चरण पखारना आदि सब काम स्वयं राजा साहब ने अपने हाथों से किये थे एवं दीन से भी दीन बनकर उन सब अतिथि-अभ्यागतों की सेवा शुश्रूषा और मनोरञ्जन करने का प्रयत्न किया था। सचमुच सोलन के राजा साहब के तुल्य राजा आजकल अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सोलन से आषाढ़ महीने के मध्य में हम लोग काशी लौट आये। लौटती बार हम लखनऊ होकर आये। उस समय हरीराम (जोशी) भाई ने एक सौ ब्राह्मणों के भोजन के लिए मेरे हाथ में २५०) दो सौ पचास रुपये दिये थे। काशी पहुँचने पर माँ ने तुरंत ब्राह्मण भोजन का काम आरम्भ कर देने को कहा। स्वामी परमानन्द ने इसपर आपत्ति प्रकट कर कहा था कि आगामी दुर्गा-पूजा के अवसर पर देहरादून जाना होगा, इसलिए वहाँ से लौट आने पर ही ब्राह्मण भोजन का काम आरंभ करना उत्तम होगा। किन्तु माँ ने जरा जोर देकर कहा, "नहीं, इस समय तुम्हारे पास जितना धन है और जितनी तुम में क्षमता है उससे जितना निभ सके उतना कर डालो।" स्वामी जी भी 'तथास्तु' कहकर कार्य में जुट गये। हरिराम भाई के २५०) रुपयों से सर्वप्रथम एक सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। इसके पश्चात् माँ के निर्देशानुसार कभी पचास, कभी एक सौ, उसके अनन्तर दो सौ, तीन सौ, कभी उससे अधिक या कम ब्राह्मणों को भोजन एक एक बार में कराया जाने लगा। इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या जिस समय तीन हजार पूरी हो चली थी उस समय एकाएक सुनने में आया कि सरकार पुनः खाद्य पदार्थों को

नियन्त्रित करने जा रही है। [स्वामी परमानन्द के परामर्श के अनुसार जितने में दस हजार ब्राह्मणों का भोजन हो सके, उतने चावल, गेहूँ रुपये उधार लेकर खरीद कर रख लिये। उसके अनन्तर फिर हमें ब्राह्मण-भोजन के सम्बन्ध में किसी तरह की चिन्ता नहीं रही। श्री माँ के कथनानुसार आषाढ़ के महीने से ब्राह्मण-भोजन की व्यवस्था हुई थी। इसीलिये पीछे खाद्य पदार्थों पर नियन्त्रण होने पर भी इतने अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराया जा सका था। यदि ऐसा न होता तो शायद हम धन रहते भी खाद्य पदार्थों का संचय न कर सकते। पग पग पर श्री माँ की सब दयापूर्ण बातें सुनकर नतमस्तक होना पड़ता है।

जिस समय ब्राह्मण-भोजन चल रहा था उस समय माँ ने कहा था, "देख काशी में नाना देशों के ब्राह्मण हैं। यदि उन सभी के भोजन की व्यवस्था की जाय तो कैसा हो? माँ के इस कथन पर हमने महाराष्ट्र, मद्रासी, बङ्गाली, सरयूपारी, गौड़, गुजराती, पञ्जाबी आदि ब्राह्मणों को स्वतन्त्ररूप से निमन्त्रण देकर भोजन कराया था। काश्मीरी, नेपाली, उड़िया, यहाँ तक कि पर्वतीय ब्राह्मण भी बाकी नहीं रहे। ब्राह्मणों के साथ अब्राह्मण भी न घुस पड़ें इसके लिए भोजन के पहले दिन हमारे आदमी जाकर काशीवासी इन ब्राह्मणों को टिकट दे आते थे। दूसरे दिन उनके आश्रम में आने पर टिकटों की परीक्षा कर उनका सत्कार किया जाता था। हमारे ब्रह्मचारी प्रत्येक निमन्त्रित ब्राह्मण के चरण धोकर आसन पर बैठा देते थे। ब्राह्मणों में से कुछ लोगों को इतनी सेवा ग्रहण करने में संकोच होता था। एक दिन उनमें से एक ने माँ के समीप जाकर माँ से निवेदन किया, "माँ, ये सब निष्ठावान् ब्राह्मण ब्रह्मचारी हमारे पैर धोते हैं, हम उनकी यह सेवा कैसे ग्रहण करें?" माँ ने उत्तर दिया था, "तुम लोग भी तो ब्राह्मण हो, आज तुम्हें विशेष रूप से आमन्त्रित कर बुलाया गया है। यह सेवा ग्रहण करने की योग्यता और अधिकार तुम लोगों को है।"

ब्राह्मण-भोजन के काम में होताओं ने बहुत अधिक सहायता की थी। कोई ब्राह्मणों के चरण-प्रक्षालन कर देते थे, कोई उन्हें माला, चन्दन से विभूषित करते थे, उनके लिये आसन बिछाना, पीने का पानी देना तथा भोजन परोसना, ये सब काम होताओं के द्वारा ही सम्पन्न होते थे। वे होम, तर्पण आदि समाप्त कर बिना भोजन किये ये सब काम करते थे। वे इन सब कामों को जिस संयम और उत्साह के साथ करते थे वह वास्तव में सराहनीय था। जब तक निमन्त्रित ब्राह्मणों की

संख्या कम थी तब तक उन्हें इन सब कामों को करने में विशेष कष्ट नहीं हुआ, किन्तु जब क्रमशः ब्राह्मणों की संख्या बढ़ने लगी तब यह काम निभाने में उनका प्रायः सारा दिन बीत जाता था। होमादि कार्य करने के बाद विना भोजन किये दिन भर सेवा कार्य में व्यस्त रहना बालकों के लिए क्लेशावह होने लगा। इसके अतिरिक्त उन्हें आहुतियों की संख्या के अनुसार गायत्री-मन्त्र का जप भी पूरा करना पड़ता था। यह सब विचार कर माँ ने ऐसीं अवस्था की कि होता लोग रात्रि में जो फलाहार करते हैं उसे वे होम कार्य समाप्ति के बाद दिन में ले सकेंगे और अन्नादि भोजन रात को ग्रहण करेंगे। यह व्यवस्था सभी के लिए सुविधाजनक हुई, एवं वही अन्त तक जारी रही।

दुर्गापूजा के बाद से तो प्रत्येक सप्ताह में एक दिन, दो दिन कभी कभी तीन दिन भी ब्राह्मण भोजन होता रहा। एवं वह भी नित्य कृत्य के समान स्वाभाविक हो गया था। आश्रम के निकटवर्ती स्थानों में जो सब माँ के भक्तों के धर थे उनके परिवार के लोग ही आकर ब्राह्मण-भोज की सब तरकारियाँ काट जाते थे। घण्टे घण्टे पर आकर वे यह काम कर जाते थे। ये सब मानो उनके निज के ही काम थे। सायंकाल के समय जो सब भक्त महिलाएँ आश्रम में घूमने के लिए आती थीं वे भी स्वेच्छा से उसमें योग देती थीं। इस सेवा कार्य में हम हाथ बंटा सक रही हैं यह जान कर उन्हें बहुत अधिक आनन्द होता था। इस तरह ब्राह्मण भोजन के पहले दिन सब तरकारियाँ अलग अलग काट दी जाती थीं। दूसरे दिन परिचित ब्राह्मणों द्वारा रसोई बनाना आरंभ होता था। जो सब ब्राह्मण अपनी रसोई की व्यवस्था स्वयं ही करना चाहते थे उनके लिए वैसी ही सब तरह से सुविधा कर दी जाती थी। प्रातः काल से ही सन्नाटे से इस तरह जो जिसका काम होता उसे लेकर वह जुट जाता था। हो हल्ले या किसी को बुलाने-पुकारने की कुछ भी जरूरत नहीं होती थी। ग्यारह बारह बजे के बीच में ही निमन्त्रित ब्राह्मण आकर उपस्थित हो जाते थे। उनका सत्कार कर भोजन आदि कराने में दो तीन घण्टे लग जाते थे। तदनन्तर उन्हें भोजन-दक्षिणा देकर बिदा किया जाता था। मद्रासी, गुजराती और महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को एक रुपया तथा अन्यान्य सब लोगों को चार चार आना दक्षिण दी जाती थी। पूर्वोक्त ब्राह्मणों को दूर से आना पड़ता था, इसलिए उन्हें बारह आने मार्ग व्यय के लिए दिये जाते थे। भोजन-दक्षिणा सभी की चार आना ही थी। महाराष्ट्रीय, गुजराती तथा मद्रासी ब्राह्मणों के भोजन में यह

विशेषता थी कि वे अपना भोजन स्वयं ही बनाते थे। जिस प्रकार का भोजन करना चाहते थे उसकी एक सूची बना कर भोजन के दो या एक दिन पहले हमें दे जाते थे। उसके अनुसार बाजार से सामग्री मँगा कर रख दी जाती थी। भोजन के दिन वे लोग रसोई बनाते थे। इसमें हमें यह सुविधा होती थी कि उन्हें सामग्री आदि देकर ही हम निश्चिन्त हो जाते थे। भोजन बनाने या परोसने में यदि कोई त्रुटि होती तो उसके लिए हमें अपराधी नहीं होना पड़ता था।

महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का भोजन हमारे लिए एक दर्शनीय वस्तु बन गया था। जिस दिन उन लोगों को निमन्त्रण दिया जाता था उस दिन उन लोगों का भोजन देखने के लिए दर्शकों की संख्या भी कुछ कम नहीं होती थी। केले के पत्तों पर सब खाद्य पदार्थ सजा कर प्रत्येक के आसन के सामने रख दिये जाते थे एवं प्रत्येक आसन के सामने धूपबत्ती जलती रहती थी। एक आसन को दूसरे आसन से पृथक् करने के लिए रोरी आदि से सुन्दर सुन्दर क्यारियाँ बनी रहती थीं। ब्राह्मण लोग रेशमी मुकट पहन कर मस्तक पर चन्दन, गले में माला धारण कर अपने अपने आसनों पर बैठकर पारापारी से शाखा सहित चारों वेदों के कतिपय मन्त्रों की आवृत्ति करते थे। जो ऋग्वेदी थे वे सब एक जगह बैठ कर समस्वर से ऋग्वेद के मन्त्रों की आवृत्ति करते थे। उनकी आवृत्ति समाप्त होने पर यजुर्वेदी यजुर्वेद के मन्त्रों की आवृत्ति करते थे। इसी तरह एक दल के बाद दूसरा दल आवृत्ति करता जाता था। इसमें लग-भग एक घंटा लगता था। जो यह सब देखते और सुनते थे उनके हृदय में भी एक सात्त्विक भाव का उदय होता था। वेदपाठ समाप्त हो जाने पर भोजन आरंभ होता था। उस समय भी धीरे धीरे परोसना जारी रहता था। हमारे बंगाल में भोजन के समय जैसे बाल्टी से करछुल द्वारा दाल परोसी जाती है वैसे ही उनके भोजन के समय एकाधिक बार घृत परोसा जाता था। जो सुन्दर सुन्दर पद्य पढ़ कर वे भोजन करते थे वह प्राय: हम सभी लोगों के लिए नवीन विषय था। किस तरह से वे भोजन तैयार करते थे वह भी हमारी जानकारी के बाहर की बात थी। महा-राष्ट्रीय ब्राह्मणों के भोजन के समय काशी संस्कृत कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीयुत नारायण शास्त्री खिस्ते जी उपस्थित रह कर उस भोजन कार्य को निभा कर अन्त में स्वयं भी साधारण फलाहार कर जाते थे।

ब्राह्मण-भोजन के बाद जो अवशिष्ट रहता वह निमन्त्रण का समा-

चार पाकर स्वयं आये हुए भिखारियों में थोड़ा थोड़ा बांट दिया जाता था। उनकी संख्या भी कभी कभी बहुत अधिक हो जाती थी। माँ ब्राह्मण-भोजन और भिखारी कभी भी एक नहीं करने देती थी। माँ कहती थीं, "ब्राह्मण-भोजन के समय भिखारी-भोजन नहीं होना चाहिये एवं भिखारी-भोजन के समय भी ब्राह्मण-भोजन नहीं होना चाहिये। जिस समय जिस रूप में वे प्रधान हो कर प्रकट हो उस समय उसी की सेवा करनी चाहिये।" दस हजार से अधिक ब्राह्मणों का भोजन समाप्त हो जाने पर एक दिन भिखारियों को भोजन कराया गया था। उस समय माँ ने कहा था, "इस समय भिखारी ही मुख्य हैं। दरिद्र नारायण समझ कर इनकी सेवा कर।"

ब्राह्मण-भोजन के सम्बन्ध में माँ का ऐसा उपदेश था कि वह न तो बहुत संक्षिप्त रूप से हो और न बहुत विराट्रूप से ही हो। ब्राह्मण-भोजन कर तृप्तिलाभ कर सकें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। हम लोग भी वैसी ही चेष्टा करते थे। जिन लोगों को निमन्त्रण दिया जाता था उनकी साधारण रुचि के अनुसार भोजन का प्रबन्ध किया जाता था। कभी पूरी, तरकारी आदि, कभी दाल, भात, साग आदि उसके साथ दही, रायता, लड्डू, बूंदिया अथवा मिठाई प्रचुर मात्रा में रहती थी। कन्हैयालाल जी ने ब्राह्मण-भोजन के लिए कुछ धन तो दिया ही था, उसके अतिरिक्त एक दिन उन्होंने नाना प्रकार की मिठाई और पूरी तरकारी द्वारा सौ से अधिक पण्डों को छक कर भोजन कराया था।

ब्राह्मण-भोजन के लिए जो धन प्राप्त होता था वह माँ के उपदेशानुसार अलग रक्खा जाता था। उसके लिए बनाई गई मिठाई आदि कोई सामग्री यदि बच जाती तो मूल्य देकर आश्रमवासियों के लिए खरीद ली जाती थी, क्योंकि माँ कहती थीं, "जिस काम के लिए जो दान है उसको यथासंभव उसी काम में व्यय करना चाहिये।"

ब्राह्मण-भोजन का काम जिस समय धीरे धीरे चल रहा था उस समय मैं एक वार कलकत्ता गई थी। कलकत्तावासी माँ के भक्तों ने जब मेरे कलकत्ता आने का कारण जानना चाहा तब मैंने उनसे काशी के यज्ञ के उपलक्ष्य में जो ब्राह्मण-भोजन चल रहा था उसके सम्बन्ध में विस्तार से कहा। यज्ञारम्भ के समय जब इस यज्ञ के सम्बन्ध में कलकत्ता, जमशेदपुर, बरहमपुर आदि स्थानों में कहा गया था तब इस विषय में कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिली थी। किन्तु ब्राह्मण-भोजन की

बात सुन कर बहुत से लोगों ने उत्साह प्रकट किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ से मुझे इस विषय में अच्छी सहायता मिलने की आशा थी वहाँ से कोई उल्लेखयोग्य सहायता नहीं मिली। किन्तु जिनकी मैंने कोई गणना नहीं कर रक्खी थी अथवा अपरिचित होने के कारण जिनकी गणना करने का कोई साधन न था, उनसे बिना मांगे सहायता आने लगी। कोई सौ, कोई पचास, कोई पचीस, कोई दो, कोई एक ब्राह्मण के भोजन का खर्च मुझे दे जाने लगे। किसी किसी ने स्वयं जो सहायता कर सकते थे वह तो की ही उसके अतिरिक्त अपने आत्मीय जनों से भी थोड़ा बहुत संग्रह करके दिया था। इन सब विषयों में श्री युक्ता सुनीति नियोगी विशेष रूप से अग्रसर रहीं। यहाँ तक कि जो एकदम निर्धन थे वे भी आठ आना या चार आना पैसा देकर मेरे कार्य सहायक हुए। उनके इस दान को मैंने बहुमूल्य समझ कर शिरोधार्य किया। यह ब्राह्मणभोजन की सूचना देने आई यह जान कर बहुतों ने मेरे प्रति कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि यदि मेरा जाना न होता तो इसकी उन्हें जानकारी प्राप्त न होती एवं इस मंगलकार्य में उनके सहयोग की कोई भी संभावना नहीं रहती। श्री माँ की कृपा से आशातीत सफलता प्राप्त कर मैं काशी लौट आई एवं इसके बाद थोड़े ही समय में ग्यारह हजार से भी अधिक ब्राह्मणों का भोजन पूर्ण हो गया। ब्राह्मण-भोजन समाप्त होने के बाद भी बहुत से परिचित और अपरिचित व्यक्तियों से इस कार्य के लिए सहायता प्राप्त हुई, जो अन्त में पूर्णाहुति के काम में लगा दी गई।

यज्ञारम्भ के एक वर्ष या डेढ़ वर्ष बाद से ही एक दो आदमियों को नाना प्रकार के अद्‌भुत दृश्य दिखाई देने लगे थे। इन सब दृश्यों के आमूल-चूल विवरणों का उल्लेख कर पूस्तक की कलेवर-वृद्धि करना मैं उचित नहीं समझती एवं इसकी विशेष सार्थकता भी मुझे प्रतीत नहीं होती। कारण कि अलौकिक व्यापारों को बहुधा लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। यहाँ तक कि स्वयं दर्शक भी बहुधा इन सब दृश्यों का वास्तविक रहस्य जानने में असमर्थ होकर उन्हें वायु की प्रबलतावश हुए विकृत दर्शन समझते हैं। फिर भी, यज्ञ के यजमान श्री नेपालचन्द्र चक्रवर्ती ने आहुति प्रदान करते समय जो सब दृश्य देखे थे उनका संक्षेप में यहाँ पर उल्लेख कर रही हूँ, क्योंकि वे इस यज्ञ से सम्बन्ध प्रतीत होते हैं :—

भाई नेपाल जी ने मुझसे कहा था कि जिस दिन छः लाख आहुतियाँ

पूरी हुईं उसी दिन उन्होंने सर्वप्रथम होमाग्नि की प्रज्वलित ज्वाला के ऊपर दो सुन्दर चरण प्रकट हुए देखे। यदि कोई आदमी पैर सटाकर बैठे तो पैर के नीचे का हिस्सा जैसा दिखाई देता है वे भी ठीक वैसे ही थे। दो चरण खूब सुन्दर और गुलाबी आभा युक्त थे। अधिकांश में वे मोम के बबुए के पैरों से मिलते-जुलते थे।

किसी दूसरे दिन उन्होंने श्री माँ को अपनी बाँई ओर खड़ी देखा था। माँ का जो रूप उनके दृष्टिगोचर हुआ था उसके साथ माँ के तत्कालीन चेहरे से कुछ भी साम्य न था। भाई नेपालजी ने माँ को एक षोड़शी युवती की मूर्ति में देखा था। माँ लाल रंग की साड़ी पहने थीं, मस्तक पर साधारण घूंघट था, कपाल में सिन्दूर लगा था और मुंह में स्नेह-भरी मधुर मुसकान थी। वह मानो माँ की मोहनी मूर्ति थी।

एक दूसरे दिन भाई नेपाल जी को अपनी दोनों ओर दो गउएँ खड़ी दिखाई दीं। उनमें एक गऊ का रंग सफेद था और दूसरी का काला। दोनों गउएँ जीभ निकाल कर मानो भाई नेपाल जी के हाथ से होम के पदार्थ लेने की चेष्टा कर रही थी एवं वे भी अत्यन्त सावधानी के साथ बार बार उनकी जीभ बचाकर आहुति दे रहे थे।

और एक दिन उन्होंने देखा कि कुण्ड-स्थित यज्ञाग्नि के बीच से कोई मानो लाल जीभ बाहर निकाल कर उनसे दी गई आहुतियाँ ग्रहण कर रही हो।

इनके अतिरिक्त उन्होंने आहुति देते समय कभी कभी यज्ञशाला के भीतर आश्रम स्थित श्री अन्नपूर्णा तथा श्री काली जी की मूर्ति को आकाश में खड़ी हुई तथा टहलती हुई देखा था, कभी शिव, दुर्गा, श्रीकृष्ण एवं श्रीरामचन्द्र जी को भी खड़े हुए देखा था।

पूर्वोक्त दृश्यों को भाई श्री नेपाल जी ने शुभ दृश्य समझा था, किन्तु उनके सिवा उन्होंने और भी कितने ही दृश्य ऐसे भी देखे थे जिन्हें उन्होंने विपत्ति अथवा अमंगल सूचक समझा था। जैसे एक दिन उन्होंने केवल एक काला मुण्ड देखा। वह मुख, नेत्र और दाँत बनाकर मानो उन्हें भय दिखा (चिढ़ा) रहा हो।

एक दूसरे दिन उन्होंने जो दृश्य देखा था वह और भी अद्‌भुत था। उन्होंने कुण्ड की भड़क रही अग्नि ज्वाला से एक छोटी सी देवी जी की मूर्ति आविर्भूत होते देखी। वह कुण्ड की अन्तर्मेखला को पकड़ कर ऊपर

आई एवं यज्ञशाला के पूर्व द्वार से बाहर चली गई। उस मूर्ति को रोकने के लिए उसके पीछे पीछे एक दूसरी मूर्ति दौड़ी आ रही थी। किन्तु दूसरी देवी जी की मूर्ति यज्ञशाला छोड़कर गई नहीं।

भाई श्री नेपपाल जी का विश्वास है कि ये सब अद्‌भुत दृश्य संभवत किसी बालक ब्रह्मचारी के अनजाने एवं अनचाहे नियमभंग के कारण हुए थे। उन्होंने जब इन सब दृश्यों के सम्बन्ध में माँ से निवेदन किया तब माँ ने यज्ञशाला और यज्ञ-कुण्ड को गंगाजल तथा गंगामृत्तिका द्वारा भलीभाँति लीपने तथा गायत्री देवी तृप्ति के लिए विशेष भोग लगाने की व्यवस्था कर दी थी।

पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि होताओं की संख्या धीरे धीरे बढ़ा कर बारह तेरह व्यक्ति कर दिये थे। उनमें अधिकांश बालक ब्रह्मचारी थे। वे कष्ट के साथ जिस तरह यज्ञ-कार्य सुचारु रूप से निभा ले गये वह सचमुच सराहनीय है। यज्ञ के प्रथम दो वर्षों तक वे खूब स्वस्थ शरीर से सब कार्यों का निर्वाह करने में समर्थ हुए थे। कभी कभी दो एक आदमी अस्वस्थ न हुए हों यह बात नहीं है, फिर भी वह अस्वस्थता नगण्य रही। बृहत् यज्ञ को समाप्त करने में प्रायः विघ्न उपस्थित होते ही हैं एवं ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए पूर्णाहुति से लगभग छः मास पहले से ही भाई श्री बटुक जी ने विघ्नविनाशन के लिए महामृत्युञ्जय के मन्त्र-जप की व्यवस्था की थी। श्रीयुक्त विश्वेश्वर भट्टाचार्य इस काम में नियुक्त हुए थे। वे एक अत्यन्त निष्ठावान् ब्राह्मण हैं और मां के भक्त हैं। लगातार छः महीने तक उन्होंने प्रतिदिन चार घंटा उक्त मन्त्र का जप किया। किन्तु ऐसी व्यवस्था के रहते भी एक के बाद एक होता अस्वस्थ होने लगे। प्रतिदिन निर्धारित आहुतियों की पूर्ति करना भी दिन कष्टसाध्य होने लगा। इसी बीच श्री माँ स्वयं कुछ अस्वस्थ हो पड़ीं। सर्दी, ज्वर, पेट दर्द आदि उपद्रव दिखाई दिये। आश्चर्य यह कि माँ के अस्वस्थ होने के अनन्तर ही होताओं में से जिन्होंने रोगशय्या पकड़ रक्खी थी वे एक एक करके चंगे हो उठे एवं पहले की नाईं नियमित रूप से दैनिक कार्य सुसम्पन्न करने लगे।

इधर माँ को अस्वस्थ देखकर हम सब लोग घबड़ा उठे। यद्यपि माँ अपने रुग्ण शरीर से ही नियमित रूप से हरिबाबा आदि महात्माओं के सत्संग में सर्वदा उपस्थित रहतीं, यह सब होते हुए भी हम लोगों की अथवा आमन्त्रित साधु महात्माओं की चिन्ता कुछ भी कम नहीं हुई।

हरिबाबा मां से स्वस्थ हो उठने के लिए बार बार प्रार्थना करने लगे। इसके लिए उन्होंने चण्डीपाठ की भी व्यवस्था की। किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। चिरहास्यमयी माँ ने हरिबाबा को सान्त्वना देते हुए कहा था, "पिता जी, रोग भी तो उन्हीं का एक रूप हैं, उसके लिए इतनी चिन्ता क्यों ?" अन्त में एक दिन मां ने हम लोगों से कहा था, "इस शरीर के थोड़ा उलट पुलट (अस्वस्थ) होने पर यदि वे भली भाँति स्वस्थ शरीर से यज्ञेश्वर की सेवा कर सकते हैं तो वह भी क्या बुरा है ?" मां की यह बातें सुनकर हमें मालूम हुआ कि यज्ञ-रक्षा करने के लिए ही मां ने अपने शरीर में सब का भोग ले रक्खा है।

इसी बीच और भी एक घटना घटी थी उसका भी यहाँ पर उल्लेख कर रही हूँ। एक दिन किसी काम से मैं बाहर गई। मैं अपने विचार में तन्मय होकर मार्ग के एक किनारे से जा रही थी। उसी समय अत्यन्त कोलाहल सुनकर मैंने दृष्टि डालकर जो देखा उससे मेरे प्राण पखेरू उड़ गये, कण्ठ सूख गया। मैंने दो घोड़ों को अपनी ओर भीषण वेग से दौड़ कर आते देखा। मैं एक ट्रेन के किनारे पर थी। ऐसा कोई स्थान भी न था जहाँ पर खड़ी होकर अपनी रक्षा कर सकती। आश्चर्य की बात यह हुई कि दोनों घोड़े इस तरह दौड़ते दौड़ते मेरे पास आते ही अकस्मात् खड़े हो गये। यदि वे रुकते नहीं तो सम्भवतः मैं उनके खुरों से कुचल जाती। पीछे इस घटना का जिक्र करके मां ने भाई श्री अमूल्य जी आदि से कहा था, "देखो तमाशा भी ऐसा कि जिस समय सब भले चंगे हो हो जायँ' ऐसा मैंने कहा था ठीक उसी समय खुकुनी के ऊपर दो घोड़े आ पड़े थे। खुकुनी किसी काम से शहर गई एवं वहीं यह दुःखद घटना घटी। किन्तु 'अच्छे हो जायँ', यह बात स्वाभाविक रूप से मुँह से निकली थी इसी लिए उसको नुकसान नहीं पहुँचा।"

आज यज्ञ के संस्मरण लिखने बैठकर कितनी ही बातों का मुझे स्मरण हो रहा है। पग पग पर माँ ने हमारी एवं यज्ञ की रक्षा की थी, इसी कारण यह विराट् यज्ञ इस प्रकार सुचारु रूप से सम्पन्न हो सका था।

"न च दैवात् परं बलम्"
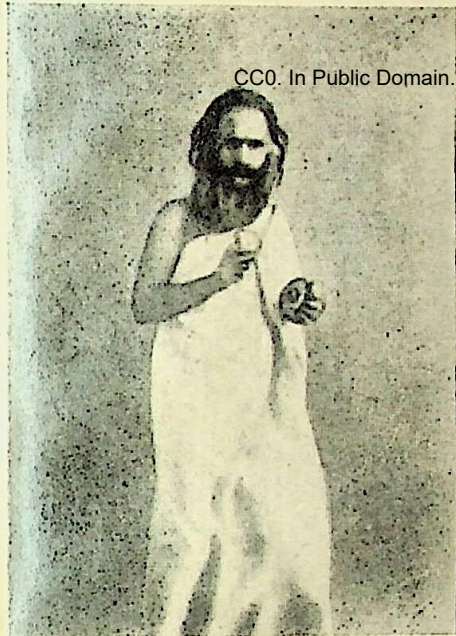
श्री १०८ ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी महाराज

श्री १०८ स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज
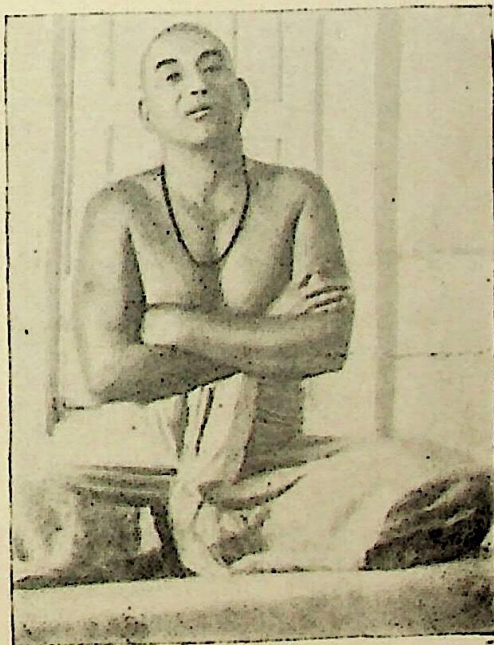
श्री १०८ चक्रपाणीजी महाराज

श्री १०८ स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज

(४)

साधु-समागम तथा कीर्तनादि उत्सव।

दस हजार ब्राह्मणों का भोजन समाप्त होने के साथ ही साथ यज्ञ समाप्ति का दिन भी करीब-करीब समीप आ पहुँचा। पूर्णाहुति के कुछ अधिक एक मास पहले से ही आश्रम में साधु-शुभागमन आरम्भ हुआ था। इसके पहले से ही हरिबाबा जी, पञ्जाब के त्रिवेणी पुरी जी और अवधूत जी, उत्तर काशी के देवीगिरि जी, बम्बई के कृष्णानन्द जी, वृन्दावन के चक्रपाणि जी, रामदेवानन्द जी, अखण्डानन्द जी, रामदास जी, झाँसी के प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी, अन्ध साधु शरणानन्द जी, स्वरूपानन्द जी, विन्दु महाराज जी, इलाहाबाद के आचार्य गोपाल चट्टोपाध्याय जी आदि महात्माओं को यज्ञ में उपस्थित होने के लिए आमन्त्रण दिया गया था। इस प्रकार से यज्ञ में साधु-सन्त और महात्माओं की उपस्थिति यज्ञ का आवश्यक अङ्ग माना जाता है। आमन्त्रित महात्माओं में केवल रामदास बाबा जी को छोड़ कर प्रायः सभी ने कृपापूर्वक यज्ञ में सहयोग देकर उसकी शोभा बढ़ाई थी। सेवकों के साथ सबसे पहले पधारे थे अवधूत जो, उसके बाद दो एक शिष्य और सेवकों को साथ ले कर हरिबाबा जी का शुभागमन हुआ एवं वृन्दावन के स्वामी अखण्डानन्द जी और पण्डित सुन्दरलाल आदि साथ ही पधारे। पण्डित सुन्दरलाल जी यद्यपि वृद्ध हैं तथापि माँ के साथ उनका बालकोचित आलाप और व्यवहार देखने योग्य है। इन सब महात्माओं के आगमन के उपलक्ष में आश्रम पताकाओं द्वारा सुन्दर ढङ्ग से सजाया गया था। आश्रम के दरवाजे पर केले के खम्भे और मङ्गल-कलश स्थापित किये गये थे। आश्रम के ब्रह्मचारी रंग-विरंगी पताकाओं को हाथ में लेकर कीर्तन करते हुए उन्हें सड़क से आश्रम में लिवा लाये थे। हरिवाबा तथा स्वामी अखण्डानण्द जी के आश्रम में पधारते समय मां ने दरवाजे पर खड़ी होकर उनका स्वागत किया था। हरिबाबा के साष्टाँग प्रणाम करने पर माँ ने भी हरिबाबा के हाथ के ऊपर अपना मस्तक रखा था। माँ के सबको लेकर आश्रम में प्रवेश करते ही ब्रह्मचारिणियों ने ऊपर शंखध्वनि और उलूध्वनि करते हुए साधुओं के ऊपर पुष्पवृष्टि की थी।

वह भी एक क्या ही अपूर्व दृश्य था। महात्मा त्रिवेणीपुरी जी के पधारने पर भी ऐसा ही किया गया था।

हरिबाबा आदि महात्माओं को नीचे के हाल वाले कमरे में लाकर उत्तम-उत्तम आसनों पर बैठाने के बाद सावित्री यज्ञ के आचार्य श्री अग्निष्वात्त शर्मा ने (भाई श्री बटुक जी ने) ऊँचे स्वर से स्वस्ति-वाचन पाठ किया था। यजमान श्रीयुत नेपालचन्द्र चक्रवर्ती (नारायण स्वामी) ने माला, चन्दन आदि द्वारा हरिबाबा प्रभृति महात्माओं को विभूषित कर धूप-दीप द्वारा उनकी आरती उतारी थी। हाल का कमरा लोगों से ठसाठस भरा तथा फूल और धूप की सुगन्ध से सुगन्धित था। उस समय की स्तब्ध गम्भीरता ने दर्शकों के हृदय में सात्त्विकता की एक गहरी रेखा खींच दी थी। उसके अनन्तर कुछ देर तक कीर्तन हुआ। फिर साधु-महात्माओं के स्नानाहार की व्यवस्था की गई। यह स्वागत-समारोह अधिकांशतः माँ के निर्देशानुसार ही हुआ था। साधुसन्तों का किस प्रकार सम्मान करना चाहिये इसकी हम लोगों को शिक्षा देने के लिए ही सम्भव है माँ ने यह व्यवस्था की थी।

हरिबाबा के शुभागमन के कुछ दिनों बाद अवधूत जी स्वयं खन्ना जाकर त्रिवेणीपुरी जी महाराज को बुला लाये थे। उन्होंने वृद्ध होते हुए भी इतनी दूर से काशी आने में कुछ आपत्ति नहीं की। सब के आने के बाद अन्त में आये उत्तरकाशी के देवीगिरि जी महाराज। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष से अधिक है। माँ का आह्वान उनके निकट पहुँचते ही वे भी भीषण शीत के मौसम में दुर्गम पर्वतीय मार्ग को लाँघकर माँ के दरवाजे पर उपस्थित हुए थे। उनके आने की हमें आशा न थी। उन्होंने यहाँ आकर कहा था, "मेरी आने की इच्छा न थी, किन्तु माता जी मुझे खींच कर लाई है।" उन्होंने यज्ञ के विराट आयोजन को देखकर यह भी कहा था, "आजकल एक पाव चीनी नहीं मिल रही है और यहाँ देखो लड्डुओं का पहाड़ बन रहा है—यह सब माँ की लीला का विलास है।" इन सब महात्माओं के चरण-स्पर्श से आश्रम की शोभा चरम सीमा में पहुँच गई थी।

हरिबाबा तथा अखण्डानन्द जी के आगमन के बाद आश्रम में पाक्षिक भागवत पाठ की व्यवस्था हुई। पहले केवल भागवत की व्याख्या ही हो। यह स्थिर हुआ था, किन्तु पीछे विचार बदल गया, इसलिए पाठ और व्याख्या दोनों की ही व्यवस्था हुई। श्रीयुत अग्निष्वात्त शर्मा

अपने यज्ञसम्बन्धी नित्य कर्म की समाप्ति के बाद पाठ आरम्भ कर १२ बजे तक पाठ करते थे तथा स्वामी अखण्डानन्द जी व्याख्या करते थे। इसलिए पास ही पास अगल बगल में दो आसन लगाकर, विचित्र पुष्पमालाओं से सजा दिये गये थे। जहाँ पर भागवत पाठ होता था वहाँ पर शास्त्रीय विधि के अनुसार कलशस्थापन, नित्य पूजा, जप आदि की व्यवस्था की गई थी। यदि किसी शुभ कर्म का अनुष्ठान होता है तो वह चाहे किसी के ही कथनानुसार क्यों न हो वह सर्वाङ्ग सुन्दर हो इस ओर माँ की तीक्ष्ण दृष्टि रहती है।

आश्रम के हाल के कमरे में ही भागवत की व्याख्या और सत्सङ्ग होता था। इस सत्सङ्ग की व्याख्या करने के लिए जाकर माँ ने कहा था, "सत्सङ्ग माने सत्स्वरूप स्वयं भगवान्। स माने तो आत्मा है जो नित्य स्वयं प्रकाशमान है। इस आत्मा के प्रकाश में जहाँ जो लोग सम्मिलित होते हैं वही सत्संग है। सत्सङ्ग ही संग है और सब असत्सङ्ग है। जहाँ पर सत् नहीं है ऐसा मन में आवे वही नश्वर है। उस नश्वर का परित्याग कर असंग निःसंग होकर उसी स्वप्रकाश की ओर दृष्टि रखना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। इसलिए केवल सत्संग ही करना चाहिये।"

हाल का कमरा फूल-मालाओं तथा फूल के गुच्छों—गमलों से नित्य नये नये ढंग से सजाया जाता था। हाल की दीवारों पर लगे विविध देव देवियों के चित्रों के ऊपर तो मालाएँ पहिनाई रहती थी ही, उनके अतिरिक्त भगवान् के विभिन्न नाम एक लम्बे रंगीन कपड़े पर लिख कर वह माला की तरह हाल के चारों ओर टाँग दिया गया था। दोनों व्यासासन भी एक दर्शनीय वस्तु बन गये थे। न बहुत ऊँची और न बहुत नीची चौकियों के ऊपर मुलायम गद्दे बिछा कर ये आसन बनाये गये थे। गद्दे की एक ओर भागवत की पुस्तक रखने के लिए पुष्पों से आच्छादित एक छोटी चौकी रक्खी गई थी और दूसरी ओर पाठकर्ता के सहारे के लिए जरीदार रेशमी वस्त्र से ढका हुआ एक बड़ा तकिया रक्खा गया था। छोटे छोटे केले के पेड़, फूलों के गुच्छे, गमले—तथा फूलों की मालाओं से ये आसन छोटे से निकुञ्ज बन गये थे। उनके सामने मङ्गल-कलश और एक तुलसी चौतरा था। वह भी प्रतिदिन नई नई फूल मालाओं से सजा दिया जाता था। गुग्गुल की सुगन्ध से कमरा सदा ही महकता रहता था। साधुओं के बैठने के लिए सुन्दर-सुन्दर गलीचों के ऊपर रंग-विरंगे बहुमूल्य आसन बिछा दिये जाते थे। सर्व-

साधारण के बैठने के लिए दरियाँ और गलीचे थे। सारा कमरा विचित्र आसन और बिछौनों से सुशोभित रहता था। समय पर इन सब बिछौनों को बिछा देना और उठा देना एक ब्रह्मचारी (श्री पानू) के जिम्मे था। वह प्रतिदिन मशीन की तरह काम करता जाता था।

अखण्डानन्द जी भागवत-व्याख्या प्रातःकाल ९॥ बजे से ११। बजे तक मध्यान्होत्तर ३ बजे से ५ बजे तक होती थी किन्तु उक्त निर्धारित समय से बहुत पहले से ही जगह जगह से श्रोता लोग आकर इतने बड़े कमरे को भरकर बैठे रहते थे। स्थानाभाव के कारण बहुत से लोगों को निराश होकर लौट जाना पड़ता था। इसके प्रतीकारार्थ आश्रम में तीन ओर लाउडस्पीकर लगा दिये गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो हाल के कमरे में स्थान न पा सकते थे वे चौतरे के ऊपर बैठ कर भी भागवत की व्याख्या, व्याख्यान, संगीत आदि सुन लेते थे। गङ्गाजी के घाट में स्नानार्थी और मनोरञ्जनार्थी लोग भी एकाग्र मन से खड़े खड़े ये सब संगीत, व्याख्यान, उपदेश आदि सुनते दिखाई देते थे। पाक्षिक भागवतपाठ और व्याख्या के समाप्त होने पर भी पूर्णाहुति के पहले तक अविच्छिन्नरूप से प्रतिदिन गीता आदि शास्त्रीय ग्रन्थों का पाठ, अवधूत जी के ज्ञानमार्ग के उपदेश तथा कीर्तन आदि में प्रायः सारा दिन बीत जाता था। प्रातःकाल से ही यज्ञोत्सव की शहनाई बज उठती थी। उसके प्रभाती स्वर के राग तथा रागिनियाँ अर्धनिद्रित नर नारियों के कानों में झर झर अमृत वर्षा करती थीं। ब्राह्ममुहूर्त में ब्रह्मचारी लोग प्रातः कालीन कीर्तन और नगर-कीर्तन समाप्त कर गङ्गास्नान आदि दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर यज्ञशाला में सम्मिलित हो समान स्वर से गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए यज्ञकुण्ड में आहुति देना आरंभ कर देते थे। गायत्री-मन्त्र से सम्पुटित हव्यवाहक वह यज्ञधूम प्रभाव के गंगावायु से चारों दिशाओं के वायु मण्डल को पवित्र बनाता हुआ महाकाश के मार्ग में प्रस्थान करता था। प्रतिदिन यज्ञ समाप्त होने के पहले से ही हाल के कमरे में भागवत-पाठ आदि आरंभ होता था एवं १२ बजे तक चलता था। फिर मध्याह्न के बाद धर्म-चर्चा एवं पाठादि आरंभ होकर सन्ध्या को ५ बजे तक चलते थे। सन्ध्या के बाद भी हरिबाबा के कीर्तन आदि में रात के नौ बज जाते थे। साधु महात्माओं के शुभागमन के बाद से ही आश्रम के भीतर रात दिन सात्त्विक भाव की धारा बह चली थी। उसके पवित्र जल में गोता लगा कर न जाने कितने असंख्य नर-नारी धन्य और कृतकृत्य हुए।

सन्ध्या को होनेवाला कीर्तन तो नित्य होता ही था। उसके अतिरिक्त वृन्दावन से श्री सरयू जी कीर्तनियां के आने के बाद रात्रि में ९ बजे से उनकी लीला और कीर्तन आरंभ होते थे। उन्होने उस कीर्तन का नाम 'नारदीय कीर्तन रख छोड़ा था। वह साधारणतः भगवान् के नाम, गुण और कीर्तन के प्रचार के रूप में किया जाता हैं। बहुत अंशों में बंगाल की कथकता से मिलता जुलता है। बाएँ हाथ की अंगुलियों से दो छोटे छोटे मंजीरे पकड़ कर टुन टुन शब्द करते हुए वे कीर्तन करते थे। उनका वह कीर्तन सभी का चित्त हर लेता था एवं इस देश के झुण्ड के झुण्ड लोग उस कीर्तन के सुनने के लिए हाल के कमरे में आकर भीड़ लगा देते थे।

इसके सिवा कलकत्ते से श्रीयुक्त रत्नेश्वर मुखर्जी जी आश्रम में आकर तीन दिन बँगला में लीला कीर्तन कर गये थे। मां ने मुझसे भाई श्री रत्नेश्वर जी को काशी बुलाने के लिए चिट्ठी लिखने को कहा था। भाई रत्नेश्वर जी आफिस का काम करते हैं एवं अवकाश के बिना उनका यहां आना सम्भव नहीं है, यह सोचकर मैंने उनको चिट्ठी देना व्यर्थ समझा था। किन्तु एक दिन मैंने उन्हें यहां उपस्थित हुए देगा। उन्होंने मां से कहा था, "इस अवसर पर मेरी यहां आने की उत्कट इच्छा थी, किन्तु नाना प्रकार की झंझटों के कारण मैं आने में असमर्थ था। इस बीच में मेरे एक मित्र अप्रत्याशित रूप से एकबारगी काशी का टिकट खरीद लाये और उसे मुझे देकर बोले कि तुम्हे आज ही काशी जाना पड़ेगा। इसी कारण मैं आया हूँ।" मां के मुँह से यदि बात निकल जाती है तो वह अवश्य होकर ही रहती है। यही बार बार देख कर मैं स्तम्भित हो रही हूँ। अस्तु, भाई श्री रत्नेश्वर जी का कीर्तन सुनकर यहाँ के सभी प्रवासी बंगालियों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहीं, क्योंकि इस प्रकार का कीर्तन यहाँ अत्यन्त दुर्लभ है।

एक दिन दिल्ली से मां के भक्तों का शुभागमन होने पर नाम-कीर्तन की बात उठी। क्योंकि वे सभी कीर्तनप्रेमी थे। उनके उत्साह से दो दिन नामकीर्तन हुआ था। उसके बीच में एक दिन विराट् रूप से आठों पहर नाम-कीर्तन हुआ था। आश्रम के चौतरे के ऊपर चाँदनी ने नीचे एक मञ्च तैयार कर उसे और सारे आंगन को रंग विरंगी बिजली के प्रकाश से सुन्दर ढंग से सजा दिया था। हरिबाबा, त्रिवेणीपुरी महाराज, अखण्डानन्द जी, देवीगिरि महाराज आदि साधु-सन्त कीर्तन की बैठक में उपस्थित रहते थे। नाम-कीर्तन के समाप्त होने के कुछ समय पहले शहर से

एक दूसरा कीर्तनकारियों का दल आश्रम में आकर दिल्ली के भक्तों के साथ मिल कर कीर्तन में रम गया। भाई मनोज जी के अनुरोध और आग्रह से हरिबाबा ने भी अपने भक्त तथा शिष्यों के साथ इस कीर्तन में योग दिया था। उस समय भक्तजनों में अद्भुत उमंग थी। अन्त में नगर कीर्तन कर आने के बाद उस कीर्तन की समाप्ति की गई थी।

लड़कों का नाम-कीर्तन-यज्ञ हो जाने के बाद लड़कियों ने भी एक दिन ११ बजे से ४ बजे तक कीर्तन किया था। कीर्तन के अन्त में वे भी लड़कों के समान ही नगर-कीर्तन के लिए निकली थीं। पर वे आम सड़क से न जा कर आश्रम के चारों ओर गलियों में कीर्तन कर आश्रम में लौट आई थी। उनकी यह शोभायात्रा छोटी परिधि में निष्पन्न होने पर भी लड़कों के नगर-कीर्तन की अपेक्षा बहुत अंशों में भड़कीली हुई थी। इसका कारण यह था कि गंगा बहनजी आदि अधिकांश महिलाओं ने रंग बिरंगी पताकाएँ हाथ में लेकर कीर्तन किया था। मुझे भी कीर्तन के आगे एक बड़ी सी पताका लेकर चलना पड़ा था। छोटी-छोटी लड़कियों ने मानो आत्मविस्मृत होकर गायन और नाच किया था। उनमें जो एक दिव्य उमंग आई थी उसका पता उनके गाने और अपने आप हो रहे नाच से चल रहा था। सबके पीछे बैंड बजाने वालों का दल बाजे से आस पास के घरों को कंपाता हुआ चल रहा था। इस प्रकार कीर्तन का दल जब आश्रम में वापस लौटा तब मां मुस्कराती हुई उनके सन्मुख आईं। मां की इस दिव्य मुस्कान को ही उन्होंने अपने आधे दिन के नाम-कीर्तन का महाफल समझ कर परम सन्तोष प्राप्त किया था।

यज्ञोत्सव के कारण जो आनन्द का स्रोत मां के भक्तों के हृदय के अन्तःस्तर से स्वतः आविर्भूत हो उठा था वह जैसा असीम था वैसी ही उसकी विचित्रता भी निस्सीम प्रतीत हुई थी। जिन्हें जो भाव शुद्धतम और पवित्रतम प्रतीत होता था वे उसीको मां के श्रीचरणों में समर्पित करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठते थे। गुजरात से जो धनाढ्य और सम्भ्रान्त महिलाएँ आई थी उन्होंने भी एक दिन रात्रि में मां को अपना गरबा नृत्य दिखलाया था। यह नृत्य कन्यापीठ के सामने हुआ था। लगभग १५-२० महिलाओं ने सुन्दर वेष में सजधज कर वदन पर चन्दन लगा और गले में पुष्पमाला धारण कर मां के सामने मण्डलाकार में नृत्य किया था। उसकी समाप्ति पर उन्होंने अर्धचन्द्राकार से मां के सामने खड़ी हो कर भजन गाये थे। मां ने उन सबको प्रसादरूप फल से आप्यायित किया था।

पाठ, कीर्तन आदि के साथ साथ अन्यान्य माङ्गलिक कृत्य भी चल रहे थे। चर्चा चली कि वेदमाता गायत्री का यज्ञ हो रहा है, इसलिए काशी के वेदपाठियों का भी आश्रम में आह्वान करना चाहिये। तदनुसार ब्राह्मण पण्डित तथा वेदपाठियों को निमन्त्रण दिया गया। सब मिलाकर १२५ व्यक्ति निमन्त्रित हुए थे। वे एक दिन दोपहर को आश्रम में आकर एकत्र हुए। पण्डितों ने कुछ देर तक द्वैत और अद्वैत वाद के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा में विचार किया। यद्यपि वह विचार सर्वसाधारण के लिए सुगम न था फिर भी उसकी नवीनता के प्रति बहुत से लोग आकृष्ट हुए थे। वेदपाठियों ने भी कुछ देर तक समवेत स्वर के साथ वेदमंत्रों की आवृत्ति की थी। तदनन्तर उनकी विदाई की पारी आई। सोलन के राजा साहब श्री दुर्गासिंह जी के हाथ से ही विदाई का कृत्य सम्पन्न किया था। राजा साहब ने प्रत्येक पण्डित और वेदपाठी को एक पीतल के वर्तन में कुछ फल, सन्देश और एक 'सद्वाणी' पुस्तक (हिन्दी अनुवाद) तथा चार चाँदी के रुपये दक्षिणारूप में प्रदान किये थे। माला चन्दन से विभूषित पण्डितवृन्द जब गुलाब के फूलों से आच्छादित एक पात्र को हाथ में लेकर मुसकुराते हुए विदा हो रहे थे उस समय का दृश्य भी खूब चित्ताकर्षक हुआ था।

सावित्री-यज्ञ में सावित्री का मन्त्रार्थ भी प्रासंगिक समझा गया। राजा साहब के ही उत्साह से एक पण्डित द्वारा उसकी आलोचना भी कराई गई थी।

कुछ दिनों के बाद श्री मां के निर्देशानुसार १०८ कुमारियों के भोजन की व्यवस्था की गई थी। उस सिलसिले में कुमारी किसे कहते हैं एवं सावित्री-यज्ञ के साथ कुमारी-पूजा का क्या सम्बन्ध है इन सब प्रश्नों के उठने पर माँ ने कहा था, 'जिसमें कुभाव नष्ट हो चुका, वही तो कुमारी है। वे ही अरूपा, अनन्तरूपा महाशक्ति हैं। वे स्वयं ही तो हैं, इसलिए उनमें 'सु', 'कु' का कोई प्रश्न ही नहीं है। एक अद्वितीया आद्या शक्ति कुमारी ही कही जाती है। सेवा-पूजा द्वारा उन्हीं का प्रकाश होता है। और प्रकाश-अप्रकाश दोनों ही उनमें है। यह जानने के लिए ही ये सब सेवा पूजा की व्यवस्थाएँ हैं।''

''तुम लोग सावित्री-यज्ञ और कुमारी-पूजा को अलग अलग क्यों समझते हो? जो सावित्री, गायत्री हैं वे ही आद्याशक्ति, परा शक्ति हैं। इसमें पृथक्ता का कोई भाव नहीं है। क्योंकि खण्ड होकर भी वे एक स्वयं-प्रकाश नित्य सत्य अनन्त महासत्ता रूप में सदा विराजमान हैं।

केवल अज्ञान—आवरण—वश उनमें भेद दिखाई देता है। जिस क्रिया द्वारा वह आवरण नष्ट हो जाता है उसीका सबको ग्रहण करना चाहिये। कुमारी-पूजादि जो किये जाते हैं वे भी उक्त आवरण-नाश के लिए ही हैं।"

"आवरण नष्ट करने के मार्ग भी अनन्त हैं। इसीलिए साधना का भी अन्त नहीं है। साधना का अर्थ है आवरण नष्ट करने की चेष्टा। आवरण का नाश होने पर जो नित्य है, जो एक होते हुए भी अनन्त हैं और अनन्त होने पर भी जो एक हैं उनका प्रादुर्भाव होता है। अन्तहीन साधना का अर्थ क्या है सुनोगे? जिस ओर से भी तुम उस प्रकाशमान सत्ता की ओर दृष्टिपात क्यों न करो उसका अन्त कहाँ है? उसके संबंध में चाहे जो कुछ भी क्यों न कहो उसकी समाप्ति कहाँ है? एक एक दिशा भी अनन्त है। मान लो, किसी ने तुम्हें एक आम की गुठली दी। तुमने उसे जमीन में बो दिया। कुछ दिनों के बाद उस बीज से पेड़ पैदा होगा, उससे कितने ही पत्ते और कितने फल होंगे। बीजों से पेड़ों की उत्पत्ति होगी। फिर पेड़ों से बीजों (फलों) की उत्पत्ति होगी। बीज प्राप्ति का अर्थ फल-प्राप्ति भी हुआ, क्योंकि बीज के अन्दर फल न रहता तो वह आता कहाँ से? और वृक्ष-प्राप्ति का अर्थ भी बीज-प्राप्ति हुआ। इस तरह देखने पर एक के अन्तर में ही अनन्त हैं। जिस समय बीज की ओर दृष्टि डाली जाय, उस समय वह एक है। किन्तु जिस समय उसकी क्रिया अथवा गति की ओर दृष्टि डाली जाय उस समय वह अनन्त है। इसी तरह जब हम लोग परमात्मा की ओर लक्ष्य करते हैं उस समय वह एक, अद्वितीय, अखण्ड, स्वप्रकाश, सत्तामात्र है। किन्तु जब उसकी शक्ति अथवा क्रिया की ओर दृष्टिपात किया जाता है. उस समय वह अनन्त गति, अनन्त स्थिति और अनन्त प्रकाशमय अनुभूत होता है, इसीलिए कहा जाता है—एक में अनन्त है और अनन्त में एक है। तुम लोग कहते हो न जिस पूर्ण से पूर्ण लेने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार से साधन और क्रियाएँ अनन्त कही जाती हैं। चाहे कुमारी-पूजा हो, चाहे यज्ञ हो, इस तरह का जो कुछ कर्म किया जाता है उसका एकमात्र उद्देश्य आवरण को नष्ट करना है। आवरण के विनष्ट होने पर ही जो कुछ है वही है यह ज्ञात होता है। उसे एक कहने पर वह जैसे सत्य है फिर उसे अनेक या अनन्त कहने पर भी वह वैसे ही सत्य है। फिर सत्य है, मिथ्या है, नहीं है इन सब प्रश्नों में कोई भी प्रश्न यहाँ नहीं उठता। इसीलिए कहा जाता है जो है वही है।" अस्तु हममें अपने परिचित सभी

महायज्ञ के आचार्य और होताओं के साथ श्री माताजी

आश्रम के प्राङ्गन में कीर्त्तन

से कुमारी-पूजन के दिन निर्दिष्ट समय पर कुमारियाँ को लेकर आने को कह दिया था एवं इसी प्रकार १०८ कुमारियों की व्यवस्था की गई थी। निर्धारित दिन लगभग ११/१२ बजे कुमारियों के सजधज कर आने पर उन्हें आसनों पर बैठा कर खूब तृप्ति के साथ भोजन कराया गया। उस समय स्वयं मां भी उपस्थित थीं। उन्हीं के निर्देश के अनुसार आरती के विभिन्न साजसामान मंगाकर हम लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक वस्तु से एक ही समय में कुमारियों की गीत वाद्य के साथ आरती उतारी थी। वह दृश्य भी कितना सुन्दर हुआ था इसका अनुभव केवल दर्शक ही कर सके थे। कुमारियों की सेवा समाप्त होने पर प्रत्येक कुमारी के हाथ में बसन्ती रंग के रुमाल के साथ भोजन की दक्षिणा देकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया गया था।

१०८ कुमारियों के भोजन के पश्चात् एक अलंकृता कुमारी की पूजा करने की बात मां के साथ हुई थी; किन्तु उस समय भण्डार में पर्याप्त धन न था। आश्चर्य की बात तो यह है कि श्री मां का खयाल उस ओर होने के साथ ही साथ एक महिला ने आकर अपने शरीर के कई आभूषण मां को देकर निवेदन किया कि मां इन्हें यज्ञ-कार्य में लगा दें। मां ने उनसे पूछा कि इनसे यदि किसी कुमारी की पूजा की जाय तो इसमें आपको कोई आपत्ति तो न होगी? कुछ आपत्ति करना तो दूर रहा, महिला ने आग्रह के साथ उसमें अपनी सहमति सूचित की। तदुपरान्त माँ ने उन आभूषणों को मुझे देकर कुमारी-पूजा की व्यवस्था करने को कहा। थोड़े ही दिनों में उन सब आभूषणों से कुमारी के लिए आभूषण तैयार किये गये तथा एक कुमारी को उन सब अलङ्कारों से सजाकर उसकी पूजा की गई। उस पूजा में अलङ्कारों के सिवा वस्त्र, बर्तन, शय्या आदि सामग्री भी कुमारी को दी गई थी।

कुमारी-सेवा के अतिरिक्त काशीधाम के मुख्य देवालयों में विशेष रूप से पूजा करने का प्रस्ताव जब माँ के समीप उपस्थित किया गया तब माँ ने कहा था, "जिनकी प्रसन्नता के लिए यह यज्ञ हो रहा है एकमात्र उन्हीं की तो भिन्न भिन्न मूर्तियाँ भिन्न भिन्न देवालयों में पूजी जा रही हैं, इसलिए यदि तुम्हें इच्छा हो तो तुम लोग उन सब देवालयों में पूजा दे सकते हो।" माँ की अनुमति लेकर हमने वैसा ही किया था। ये सब पूजाएँ देने का भार श्री ताबुल (विनय कुमार वसु) के जिम्मे किया गया था। उसने भी अत्यन्त दक्षता के साथ श्री विश्वनाथ, श्री

अन्नपूर्णा, श्री केदार तथा श्री कालभैरव की पूजा और भोग का बन्दोबस्त किया था।

काशी के सब दण्डी स्वामियों और परमहंसों का एक दिन भण्डारा किया गया था। आँगन के ऊपर गेरुवा वस्त्र पहने हुए संन्यासियों की पंक्ति जिस समय भोजन करने बैठी थी उस समय वह दृश्य भी खूब मनोहर लगा था।

किसी दूसरे दिन बानरों को भोग दिया गया था। वह काम भी माँ की व्यवस्था के अनुसार हुआ था। अक्सर मां हँसी ठट्ठे में ये सब निर्देश कर देती थीं, किन्तु जो निर्देश पालनीय होता उसे समझने में हमें कोई दिक्कत नहीं होती थी। एक दिन प्रातःकाल मां भक्तों के साथ कन्या-पीठ के नीचे बरामदे में बैठी थीं। उसी समय एक छोटा सा बंदर रसोई घर में घुस रहा था। उसे देख कर दो तीन आदमियों ने उस पर प्रहार किया, यह देखकर मां ने हँसते हुए कहा था, "वह बेचारा खाने को आया और तुम उसे दुरदुराते हो एवं उस पर प्रहार करते हो। एक काम करो, एक दिन ब्राह्मण-भोजन के लिए जो प्रबन्ध करो उसके साथ कुछ अधिक रसोई बना देना एवं उसी से बानरों को भोग देना। इसी बीच मैं वहाँ से जा रही थी। मुझे देखकर मां ने मुझसे भी यही बात दुहरा कर यह भी कहा, "जिस दिन बानरों को खाना दो, उसके पहले दिन रात्रि में महावीर जी को मन ही मन निमंत्रण दे देना। दूसरे दिन कन्यापीठ की छत के ऊपर ११ वर्तनों में भोजन और ११ गिलासों में जल दे देना। देखना ये खाना खाते हैं या नहीं। पहले ११ बर्तनों में खाना सजा देना तदनन्तर आवश्यकता होगी तो और भी दिया जायगा।"

मां की बात सुनकर भाई अमूल्य जी ने मां से पूछा, "ग्यारह बर्तनों में खाना देने के लिए क्यों कहा ?"

मां। (हँस कर) वैसा ही खयाल आया, इसलिए कह दिया। (कुछ देर बाद) तुम लोग ग्यारह रुद्र कहते हो न ? महावीर का जन्म भी रुद्रांश से है, यह बात भी कही जाती है, इसीलिए ग्यारह बर्तनों में खाना देने को कहा।

मां के आदेशानुसार लगभग दस सेर भात तथा उसके अनुरूप दाल, साग और मिठाई एक परात में सजाकर भोग दिया गया था एवं ग्यारह आसनों में अलग अलग ग्यारह पत्तलों में भोग दिया गया था। एकादश

रुद्रों ने ग्यारह पात्रों से भोग ग्रहण कर प्रत्येक पात्र में कुछ प्रसाद भी छोड़ दिया था। इस प्रकार ग्यारह रुद्रों की सेवा हुई थी।

एक दिन मां के निर्देशानुसार कौओं के लिए भी एक थाल में भात, दाल और साग सजा कर भोग दिया गया था। हमारी स्थूल दृष्टि की पहुँच से परे उसे किन्होंने ग्रहण किया था यह केवल मां ही जानती हैं। हम लोगों ने तो केवल माँ की आज्ञा का पालन कर दिया था और मन में यह सोचा था कि वही हमारी इष्ट हैं।

एक दिन गो माता की पूजा और गङ्गा जी की पूजा की गई थी। विधिपूर्वक गङ्गा-पूजा करने के बाद गङ्गा जी की बीच धारा में सवा मन दूध चढ़ाया गया था एवं गङ्गा माता को इस पार से उस पार तक फूलों की एक प्रकाण्ड माला पहनाई गई थी। अन्तिम काम श्रीमान् पटल (सत्येन्द्रनाथ वसु) सहायता से सम्पन्न हुआ था।

प्रत्येक अमावस्या, पूर्णिमा तथा संक्रान्ति के दिन गायत्री देवी के विशेष भोग की व्यवस्था तो थी ही, उसके अतिरिक्त बीच में एक दिन भात, दाल, साग, खिचड़ी, पूरी, मिठाई इत्यादि वस्तुओं से गायत्री देवी के भोग की व्यवस्था की गई थी। उस अवसर पर आश्रम में बहुत से लोगों ने प्रसाद पाया था। इस काम को सुचारु रूप से निभाने में सन्तदास बाबा की शिष्या बहन श्री गङ्गाजी की सहायता भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई थी। वे जैसी धर्म-प्राण हैं वैसी ही विदुषी भी हैं। इस समय उन्होंने कन्यापीठ की लड़कियों को संस्कृत पढ़ाने का भार लिया है।

साधु-समागम के बाद से पूर्णाहुति के पहले तक कोई न कोई उत्सव आश्रम में चलता ही रहता था एवं झुण्ड के झुण्ड लोगों की भीड़ का नदी की बाढ़ के समान सदा ही आश्रम में आना जाना लगा ही रहता था। आश्रम के फाटक पर फल फूलों की कितनी ही दूकानें लग गई थीं, क्योंकि जो आश्रम में आते थे उनमें से प्रायः अधिकांश लोग कभी माँ के लिए, कभी अन्याय महात्माओं के लिए फल अथवा पुष्प-माला लेकर आते थे। इतना बड़ा महोत्सव चल रहा था किसी आश्रमवासी को निश्चिन्त होकर उसे देखने का अवसर न था। आश्रम के ब्रह्मचारी, विद्यापीठ के छात्र तथा शिक्षक और कन्यापीठ की ब्रह्मचारियाँ ये सब के सब सदा ही यज्ञ अथवा साधु सन्तों के सेवाकार्य में व्यग्र रहते थे एवं

उन्होंने अत्यन्त सुश्रृङ्खलता तथा आनन्द से इन सब सेवाकार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन किया था। महात्मा लोग हमारी सेवा ग्रहण कर जो आनन्द प्रकट कर गये उससे हमें प्रतीत हुआ कि हम लोगों ने संभवतः उनके श्री चरणों में कोई गुरुतर सेवापराध नहीं किया अथवा यदि किया भी होगा तो वे अपनी स्वाभाविक उदारता से हमारे सब अपराधों को क्षमा कर गये हैं।

●

(५)

पूर्णाहुति

साधु-महात्माओं के शुभागमन के बाद से ही काशी के आश्रम में भक्तों का तांता लगना आरम्भ हो गया था। बम्बई, गुजरात, अहमदाबाद, पञ्जाब, दिल्ली, देहरादून, अल्मोड़ा, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, पटना, जमशेदपुर, कलकत्ता, ढाका तथा पूर्वी बंगाल के अन्यान्य स्थानों से झुण्ड के झुण्ड भक्तगण आने लगे। इन भक्तों में सभी वर्ण और सभी श्रेणियों के लोग थे। एक ओर सोलन और सुकेत के राजा तथा अहमदाबाद के करोड़पति जैसे लोग थे और दूसरी ओर मध्यवित्त साधारण गृहस्थ, निर्धन तथा पूर्वी बंगाल के सर्वस्व गँवाये हुए लोगों का दल भी था। मां के भक्तों में अधिकांश लोग आधुनिक शिक्षा में उच्च शिक्षित है किन्तु अर्धशिक्षित एवं अशिक्षितों की संख्या सर्वथा नगण्य हैं सो बात है। सम्मिलित भक्तों में जैसे सर्वोच्च न्यायालय के जज, बैरिस्टर, अटर्नी से लेकर स्कूल कालेजों के छात्र, अध्यापक आदि थे वैसे ही वर्तमान सभ्यता से सर्वथा अस्पृष्ट, स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में लालित पालित, शुद्ध सरल हृदय पर्वतीय स्त्रियों का दल भी था। अल्मोड़े से आठ पर्वतीय स्त्रियां आई थीं, जिन्हें हम लोग "मां की अष्ट सखियां" कहते थे। वे मां को "चित्तचोर" कहती थीं। उनकी वेष-भूषा की कोई शृंखला न थी, सहज सरल स्वभाव था। वे सब मां के लिए अपने यहां से कोई न कोई वस्तु लाई थीं— कोई तिल, कोई चावल, कोई चूड़ा इत्यादि। उन्होंने ये सब तिल, चावल आदि अपने खेतों में पैदा किये थे, वे स्वयं ही छांट बीन कर लाई थीं। यज्ञ के लिए छोटे छोटे टीन के डिब्बों में घी एवं दीपक की बत्तियां भी लाई थी। उन सब बत्तियों की संख्या भी कम न थी। कोई एक लाख, कोई २५ हजार, कोई १० हजार और कोई २/१ हजार बत्तियां लाई थीं। मां ने भी उनकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था की थी। पूर्णाहुति के दिन उन सब बत्तियों को घी में भिगा कर कई बड़ी बड़ी परातों में रख कर उनसे अग्निदेव की आरती कर उन्हें माला के आकार में यज्ञशाला में सजा कर रखा गया। उस दिन वे भी एक दर्शनीय वस्तु बन गये थे। न जाने कितना अधिक हृदय का

आकर्षण रहने के कारण माँ के लिए उन सब वस्तुओं को अपने हाथ से तैयार कर जाड़े में दुर्गम पहाड़ों को पार कर इतनी दूर से उनका आना सम्भव हुआ यह भी विचारणीय विषय है। उनका उक्त उपहार देख कर किसी किसी ने उसकी विदुर (सुदामा ?) के चावल की किनकियों से तुलना की थी। किन्हीं ने उन्हें धनाढ्यों के बहुमूल्य उपहारों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् समझा था। उन सब विचित्र जन-संघों को देख कर जैसे आश्चर्यान्वित होना पड़ता है वैसे ही मां की जो एक विराट् आकर्षिणी शक्ति है उसका भी कुछ कुछ पता लगता है।

पौष मास के आरम्भ से ही छिट-फुट रूप से भक्तों का समागम होने लगा था। पूर्णाहुति का दिन ज्यों-ज्यों निकट आने लगा त्यों-त्यों भक्तों की भीड़ बढ़ने लगी। उस समय नित्य नये आये हुए लोगों की संख्या ५०-६० से आरम्भ होकर अन्त में २००-२५० तक पहुँची थी। इस प्रकार आश्रम में प्रायः हजार से अधिक भक्तों का आगमन हुआ था, इतने लोगों को आश्रम में स्थान देना सम्भव न देख कर हमने आश्रम के आस-पास तथा आश्रम से कुछ दूर भी लगभग २५-३० मकान किराये पर लिये थे। शीतकाल होने के कारण थोड़ी जगह में अधिक लोगों का समावेश करना सम्भव हो सका था। अधिकांश मकानों में बिजली का प्रकाश न था, इसलिए हमें हैरीकेन, लालटेन, मोमबत्ती आदि की व्यवस्था करनी पड़ी थी। कहीं-कहीं चौकी, खटिया, चटाई आदि का भी प्रबन्ध करना पड़ा था। जल आदि रखने के लिए सैकड़ों बाल्टियाँ, घड़े आदि देने पड़े थे। जिन्होंने आश्रम में प्रसाद न पा कर अपनी रसोई अपने आप ही बनाने का निश्चय किया था, उनके लिए बर्तन, चूल्हा, कोयला, लकड़ी आदि का भी प्रबन्ध कर देना पड़ा था।

आश्रम में एक समय प्रायः हजार आदमी प्रसाद पाते थे। हाल के कमरे के नीचे जो तीन कोठरियाँ हैं उनमें से एक में रसोई बनाने का और दो में बैठ कर प्रसाद पाने का प्रबन्ध किया गया था। इसके सिवा अन्यान्य स्थानों में भी रसोई बनाने का प्रबन्ध था। श्री अन्नपूर्णा का जो भोग बनता था था उसमें से सौ सवा-सौ लोग प्रसाद पाते थे। वहाँ साधारणतः विधवाएँ ही प्रसाद पाती थीं। कन्यापीठ में अधिक मात्रा में रसोई बनाने की व्यवस्था कर वहाँ स्त्रियों के भोजन की सुविधा कर दी गई थी। श्री श्री माँ के लिए जो भोग बनता था उसमें से भी भक्तजन प्रसाद पाते थे। इसके अतिरिक्त हमारे आश्रम से सटे हुए जो दो जैन-

मन्दिर हैं, उनके अधिकारियों ने भी कृपा कर वहाँ हमारे भक्तों के लिए कई कोठरियाँ खाली कर दी थीं। वहाँ जो रसोई बनती थी उसमें से भी सैकड़ों लोग प्रसाद पाते थे। पर आश्रम के हाल कमरे के नीचे ही अधिक संख्या में लोग भोजन करते थे। श्री अन्नपूर्णा, कन्या-पीठ तथा श्री मां के भोग के अतिरिक्त सब रसोइयाँ के द्वारा तैयार कराई जाती थी। जिस समय वे बड़े-बड़े हंडों तथा कड़ाहों में रसोई ढक देते थे उसे देख कर ही मन के ऊपर विराट् भाव की छाप पड़ती थी। एक बड़े भारी कड़ाह में सम्भवतः एक टीन तेल उड़ेल दिया जाता था। उसके पश्चात् उसमें नाना प्रकार की तरकारियाँ, जो काट-कूट कर तैयार रखी रहती थीं, एक बार में लगभग ५ मन छोड़ कर जब बड़े बड़े करछुलों से उसे घोटते थे तब उस दृश्य को देख कर हमें महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर के संवाद की याद आ जाती थी। यक्ष ने (यक्षरूपधारी धर्म ने। युधिष्ठिर से प्रश्न किया था—"का वार्ता"—बात क्या है ? युधिष्ठिर ने उसके उत्तर में कहा था, "काल सूर्यरूपी अग्नि से रात्रि दिन रूपी लकड़ियाँ जला कर महा मोहरूपी कड़ाह में मास ऋतुरूपी करछुलों से चला कर प्राणियों को पका रहा है। यही वार्ता है।" यह ठीक है कि हमारी वार्ता यद्यपि वैसी नहीं थी तथापि पाक-प्रणाली जगत् की विराट् वार्ता का स्मरण करा देने के लिए पर्याप्त थी। उस व्यापार के प्रधान कर्णधार थे स्वामी परमानन्द। इन सब कामों के लिए धन की आवश्यकता भी विराट् प्रकार की ही होती है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि जितने दिनों तक यज्ञ चला उतने दिनों तक कभी भी हमारे पास धनका प्राचुर्यं नहीं रहा। हाँ, धनाभाव से कभी हाथ भी नहीं रुका। जिस समय आश्रम में झुण्ड के झुण्ड भक्तगण आने लगे उस समय कमल ब्रह्मचारी ने (जो इस यज्ञ का हिसाब किताब रखते थे एवं विशेष रूप से आगन्तुकों की देख रेख करते थे) एक दिन, दिन पर दिन खाली हो रहे अपने भण्डार को देख कर मेरे पास आकर कहा, "दीदी, ये जो झुण्ड के झुण्ड साधु तथा भक्तजन आश्रम में आ रहे हैं इनकी सेवा का साधन क्या है ? भण्डार तो प्रायः खाली है।" उसे हताश देख कर मैंने कहा था, "चिन्ता क्यों करते हो प्रबन्ध हो ही जायगा। देख तो रहे ही हो कि मां की कृपा से जिस समय जो आवश्यकता होती है वह पूरी हो जा रही है।" जिस दिन यह बात हुई थी उसी दिन या उसके दूसरे दिन इलाहाबाद से नीरज बाबू की स्त्री आईं। उन्होंने आते ही २५०) रुपये मेरे हाथ में देकर कहा कि इन रुपयों को आप यज्ञ के किसी काम में

लगा दीजिये। मैंने भी वे रुपये कमल को देकर हँसते हुए कहा था, "तुम्हें तो धन के लिए बड़ी चिन्ता हो रही थी यह लो धन। इसे साधु-सेवा में लगा दो।" यह सुन कर कमल ने हँसते हुए उत्तर दिया था, "दीदी, ये २५०) रुपये ढाई दिन भी नहीं चलेंगे। यथार्थ में बात ऐसी ही थी। पीछे जब अधिक संख्या में भक्तजन आने लगे तब तो हमारा दैनिक खर्च ५००) रुपये से २०००) रुपये हो चला था। यद्यपि इस यज्ञ के खर्च का पूरा पूरा हिसाब नहीं रखा गया फिर भी खूब संयम के साथ कम से कम खर्च कूतें तो मालूम होता है लगभग ३ लाख रुपये खर्च हुए होंगे।

उत्सव तथा भोजनादि के व्यय के अतिरिक्त मां के निर्देशानुसार आश्रम में जब जो कुछ हुआ वह सब मानो राजसी ठाठ से हुआ। जो सब महात्मा और भक्तजन यज्ञ के अवसर पर आश्रम में पधारे थे उनको मां के आदेशानुसार आशीर्वाद वस्त्र दिये गये थे। किन्हीं किन्हीं को रेशमी धोतियां और चादर, महिलाओं में किन्हीं को रेशमी और सिल्क की साड़ियाँ, किन्हीं को हेण्डलूम और मिल की सुन्दर सुन्दर साड़ियाँ, छोटी कुमारी लड़कियों को कुर्ती और गरम फ्राक, बड़ी लड़कियों को साड़ी, गरम फ्राक, कुर्ती आदि, ब्रह्मचारियों को सिल्कन रामनामी तथा शाल आदि दिये गये थे। यह सच है कि मां भण्डार की स्थिति को ध्यान में रखकर कोई आदेश नहीं देती थी किन्तु यह सदा ही मेरे देखने में आया है कि जब जब मां ने जो कुछ भी करने की आज्ञा दी है उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उपयुक्त सहायता अपने आप ही आकर उपस्थित हुई। उन सब आशीर्वादी वस्त्रों को खरीदने में हजार रुपये से अधिक व्यय हुआ था। उनके अतिरिक्त भक्त जनों ने मां को समय समय पर जो सब मूल्यवान् कुर्ती, कपड़े, चादर, कम्बल, स्वेटर आदि दिये थे वे सब भी उनके साथ बांट दिये गये थे। उनकी संख्या भी सौ से अधिक ही होगी। पूर्णाहुति के दिन अधिकांश भक्त इन सब आशीर्वादी वस्त्रों को ही पहन कर उत्सव देखने आये थे। मां के द्वारा प्रदत्त साज-सामग्री से सुसज्जित प्रसन्नवदन इन सब भक्तों ने उत्सव की शोभा को और भी उज्ज्वल कर दिया था।

आश्रम में सबेरे शाम दोनों समय हजार से भी अधिक लोग प्रसाद पाते थे। उसके सिवा प्रातः काल से रात के बारह बजे तक सत्सङ्ग और कीर्तनादि में समय बीत जाता था। इस कारण आश्रम में खूब कोलाहल हो सो बात नहीं रही। जिनके ऊपर उन सब कामों का भार था वे मानो

यन्त्र की तरह उन सब कामों को कर डालते थे। इसके कारण उनमें विरक्ति या थकावट का लेश भी नहीं दिखाई देता था। सब विषयों में मानो वे निश्चिन्त और निर्भय थे। वह भी श्री मां की कृपा से ही हो सका था, यह कहना व्यर्थ है। श्री मां उन लोगों की कर्तव्यपरायणता और उत्साह के लिए बीच बीच में कहती थीं, "तुम जिस समय जो काम करो उसे सेवा की भावना से ही करो। याद रखो, यज्ञेश्वर ने ही नाना प्रकारों से सेवा-ग्रहण करने की व्यवस्था की है। सब रूपों में एक-मात्र वे ही तो है। तुम उनके सेवकमात्र हो। इसलिए तुम लोगों में जिस प्रकार आलस्य, शिथिलता अथवा क्रोध आदि का भाव न झलके, उस ओर सदा लक्ष्य रखो। सदा संयमी होकर रहने की चेष्टा करो एवं सदा इस भावना को मन में जागरूक रखो कि यज्ञेश्वर ने कृपा कर हमें इस सेवा का व्रती बनाया है तथा इस सेवा में अधिकार दिया है। एवं यज्ञेश्वर से ऐसी प्रार्थना करो कि वे तुम्हारी सेवा को निर्दोष रूप से परिपूर्ण करें। ध्यान रखो, निर्दोषरूप से सेवा होने पर सब (अर्थात् नानात्व) निवृत्त हो जाता है। इसीलिए सेवा में आनन्द प्रकट करने की आवश्यकता है।"

"यदि तुम कर्म की दृष्टि से इस सेवा को देखो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि यह भी एक प्रकार का यज्ञ ही है; क्योंकि कर्ममात्र ही यज्ञ है। कर्म का पहले मन में उदय होता है। उसके बाद उसे कार्य का रूप देने की जो चेष्टा की जाती है वही हुई आहुति। कर्म करके जो फल-प्राप्ति होती है उसी को तुम यज्ञ-फल कह सकते हो। इस प्रकार देखने पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सदा यज्ञ चल रहा है। छोटी-मोटी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे हुए सकाम यज्ञ एवं उक्त कर्मों के फल से कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं, क्योंकि क्रिया का फल तो अवश्य होगा ही, किन्तु समस्त जगत् के इष्ट की प्रीति के लिए जो कर्म या यज्ञ किया जाता है वही हुआ महायज्ञ। उस कर्म की पूर्णता ही हुई पूर्णाहुति एवं उसका फल हुआ यज्ञेश्वर का आविर्भाव. इष्ट का प्रादुर्भाव। इष्ट क्या है? देखो, जहाँ अनिष्ट का स्थान नहीं है अथवा जहाँ इष्ट-अनिष्ट का कोई प्रश्न नहीं है। एकमात्र जो सदा प्रकाशित हैं उनका स्पर्श से ही सरस हैं। तीन वर्ष से जो यह यज्ञ चल रहा है, इसमें तुम लोगों में से जिसने जो काम किया वह चाहे साधारण हो चाहे महान्, वह सभी यज्ञ रूप में किया ऐसा समझो।"

इस सिलसिले में एक भक्त ने माँ से पूछा था, "माँ, इस यज्ञ का फल क्या है ?" माँ ने उसका उत्तर स्पष्ट रूप में न देकर कहा था, "देखो, अग्नि-देव जो इस तरह प्रकट हुए और इतने समय तक उन्होंने जो सेवा ग्रहण की, क्या वह सर्वथा निष्फल है ? जिस अग्नि को 'एक महायज्ञ में लगा दूँगी' ऐसी वाणी अपने आप मुंह से निकल पड़ी थी वह क्या केवल कल्पनामात्र है ? यह निश्चय जानो कि जो कुछ हो रहा है वह उनके राज्य के, निखिल ब्रह्माण्ड के, सृष्ट असृष्ट सभी को लेकर कोई अपूर्व व्यापार है। वे यह जो कुछ करा रहे हैं उसे बच्चों का खेल मत समझो। योगायोग की ओर क्या तुम तनिक दृष्टिपात नहीं कर रहे हो ? लोक में इच्छा करने पर ही क्या ऐसे योगायोग की सृष्टि कर सकते हो ? देख ही तो रहे हो वे इस तरह से प्रकाशित होने के लिये जिस वस्तु की आवश्यकता है उसे अपने आप ही ला रहे हैं। सबके भीतर स्थित होकर वे ही कृपा कर रहे हैं। इस प्रकार देखने का अभ्यास करने पर एक दिन इस सारे व्यापार की सार्थकता तुम्हें प्रतीत हो जायगी।" मां के सब उपदेश कार्य-कर्ताओं के हृदय में रसायन की भाँति असर कर उनकी कर्म शक्ति को उज्जीवित करते रहते थे, यह कहना तो अधिक है। इसीलिए वे लोग संयत मन से एवं परम आनन्द के साथ अपने अपने कर्तव्यों का रात दिन पालन करते जाते थे।

पूर्णाहुति का दिन ज्यों ज्यों निकट आ रहा था त्यों-त्यों भक्तों तथा कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ता जा रहा था। सभी लोग किसी न किसी रूप में अपने को इस यज्ञ कार्य में नियुक्त कर सकने पर मानो अपने को कृत-कृत्य समझ रहे थे। पूर्णाहुति के दिन नवीन ध्वज तथा पताकाएँ लगानी थीं, इसलिए लड़कियाँ बड़े उत्साह के साथ उन्हें नये सिरे से तैयार करने में लग गईं। श्रीमती रेणुका देवी ने सुन्दर-सुन्दर साटन के ध्वज तथा पताकाओं पर कूची से विभिन्न देवी देवताओं के वाहन और अस्त्र-शस्त्रों को अंकित कर दिया एवं काढ़ने में पारंगत कुमारी वीथिका देवी ने उन्हें विभिन्न रंगों के रेशमी डोरों से भर कर प्रत्येक चित्र को दर्शनीय रूप दे डाला। सब ध्वज और पताकाएँ तैयार करने का भार तथा उनका व्यय अकेले लक्ष्मी रानी ने ही उठाया था। लगभग सौ से अधिक व्यय से विचित्र रंग की बनारसी साड़ी के टुकड़ों से महाध्वज बना कर उसके छोर पर जरी का झालर और एक गुच्छा चाँदी के घुंघरुओं का लगा दिया था। इसका व्यय श्रीमती शीला एवं उदास ब्रह्मचारिणी ने उठाया था।

पूर्णाहुति के दिन गायत्री देवी की राजोपचार से पूजा करने की व्यवस्था हुई थी। उसके लिए देवी को वस्त्र और अलङ्कार जो जो चढ़ाने थे वे सभी धीरे धीरे इकट्ठे हो गये। देवी के पहनावे में कांचुली का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह क्या चीज है यह हमें ज्ञात न था। श्री माँ की कृपा से किसी प्रकार की भी अङ्गहानि होने का अवसर नहीं आया। इसलिए हमें कांचुली का भी पता चल गया। गुजराती महिलाओं में शान्ति देवी नाम की एक महिला सदा ही आश्रम में आती थीं। वे कांचुली बनाना जानती हैं यह सुनकर उन्हीं पर उसके बनाने का भार दे दिया गया था। उन्होंने भी उसे बहुत सुन्दर ढंग से तैयार कर दिया था। उसके तैयार होने पर मालूम हुआ कि कांचुली शरीर में पहनने की एक तंग कुर्ती के सिवा ओर कुछ नहीं है। पर उसकी काट छाँट और सिलाई में विशेषता अवश्य है। वस्त्र और अलंकारों के सिवा देवी जी के लिए पलंग, शय्या, सवा सेर वस्तु जिसमें समा सके ऐसी चाँदी की एक कटोरा तथा चाँदी के एक सेट बर्तन, इकट्ठे किये गये। चन्दन के काठ में पूर्णाहुति हो इसके लिए कोई १० सेर, कोई २० सेर, कोई थोड़ा सा चन्दन काठ लाकर देने लगे। इस प्रकार पूर्णाहुति का आयोजन चलने लगा।

पूर्णाहुति के पहले दिन रात्रि के समय, जब सत्संग समाप्त हो गया, माँ के निर्देशानुसार सारे आश्रम को झाड़ू से साफ कर उसके ऊपर गंगाजल छिड़क दिया गया एवं उसी समय से आश्रम और यज्ञशाला को फूलों से सजाना शुरू किया गया। अनेक लोगों ने इस काम में आनन्द-पूर्वक योग दिया। यज्ञशाला भीतर और वाहर फूलों की मालाओं से ऐसी सजाई गई कि दूर से उसे देखने पर यह एक फूलों का गुच्छा है ऐसा भ्रम होने लगा। आश्रम की धवल प्रासाद-पंक्ति की दीवारों में लहरों की तरह फूल पत्तियों की विचित्र मालाएँ नाना प्रकार से झुला दी गई थीं। आश्रम के आंगन के ऊपर बड़ी बड़ी पुष्प-मालाएँ शोभा पाने लगीं। देखते देखते आश्रम एक पुष्पोद्यान के रूप में बदल गया। ऊपर नीचे इधर उधर जिधर ही दृष्टि डालिए प्रफुल्ल फूलों का समा बंधा था। इस यज्ञ के निमित्त लगभग दो हजार रुपये की फूल मालाएं खरीदी गई थीं। उनके सिवा अन्यान्य लोगों ने जितनी मालाएं खरीद कर माँ को अथवा अन्यान्य साधु-महात्माओं को चढ़ाई थीं उनकी गिनती की जाय तो कहना पड़ेगा कि इस यज्ञ के अवसर पर आश्रम में लगभग ५-६ हजार की केवल पुष्प-मालाएँ ही व्यवहार में आईं।

यज्ञशाला की दक्षिण ओर एक स्थान दिखाकर माँ ने वहाँ पर महात्माओं के बैठने का प्रबन्ध करने को कहा था। मां के आज्ञानुसार उस ओर एक आड़ लगा कर महात्माओं के लिए उच्च आसन की व्यवस्था की गई एवं विशिष्ट व्यक्तियों के लिए वहीं पर गलीचे आदि बिछा दिये गये। अन्यान्य लोगों के लिए भी यथायोग्य बैठने की व्यवस्था की गई। तदनन्तर माँ के निर्देश के अनुसार ही दान की वस्तुएँ यज्ञशाला के उत्तर द्वार से यज्ञशाला के अन्दर लाकर रक्खी गईं। कहाँ पर कौन वस्तु रखनी चाहिये यह सब माँ ने ही खड़ी हो कर बतला दिया।

पूर्णाहुति के पूर्व दिन रात्रि में सोना नहीं चाहिये। गीत वाद्य के साथ आमोद-प्रमोद कर रात्रि व्यतीत करने की ही शास्त्रीय विधि है। हम लोगों ने भी उसी का अनुसरण किया था। उसी रात्रि गुजराती महिलाओं ने माँ को 'गरबा' नृत्य दिखाया था। उनका नृत्य समाप्त होने पर लड़कियों ने हाल के कमरे में रात्रि के १ बजे तक कीर्तन किया था। किसी किसी ने यज्ञशाला के चारों ओर लीप कर ऐपन दिये थे। इस काम में विशेष रूप से अग्रसर थीं श्रीमती इला। रात्रि में एक बजे के बाद से लड़कों ने भी कीर्तन कर सारी रात बिता दी। हम लोगों में से किसी के भी नेत्रों में निद्रा का लेशमात्र भी न था, किन्तु उसके कारण शरीर में किसी प्रकार की थकावट भी नहीं आई। श्री माँ ने हम लोगों के बीच घूम फिर कर आवश्यकतानुसार काम काज का निर्देश कर सारी रात बिता दी। इस प्रकार रात्रि के ४ बजने पर ब्रह्मचारी गङ्गा स्नान करने उतरे। वे लगातार तीन वर्षों से उसी समय गङ्गा स्नान कर प्रातः कृत्य सम्पन्न करते आ रहे थे। भक्तों में से भी अनेक लोग गङ्गा स्नान कर आये। उन्होंने धूप आदि जला कर प्रातः कीर्तन आरम्भ कर दिया। देखते देखते पूर्वाकाश तपे हुए सोने की तरह पीतिमा लिये हुए लाल हो उठा एवं रात्रि सुप्रभात में बदल गई।

३० पौष वि० २००६ संवत् तदनुसार १४-१-५० पूर्णाहुति का दिन था। सुदीर्घ काल से (तीन वर्षों से) जो महायज्ञ चला आ रहा था उस दिन उसकी समाप्ति होने वाली थी। इस कारण एक ओर हृदय जैसे मारे आनन्द के थिरक उठा दूसरी ओर वैसे ही आडम्बर विहीन दूसरे दिन की कल्पना कर बीच-बीच में उदास होने लगा। क्योंकि लगातार तीन वर्षों तक चलने वाले इस साहचर्य से यज्ञ हमारे जीवन का एक

अपरिहार्य अङ्ग बन चुका था। प्रभात होते न होते ही झुण्ड के झुण्ड नरनारी आश्रम में आकर इकट्ठे होने लगे। जो पिछली रात आश्रम में उपस्थित न थे वे आश्रम की सजावट देख कर चौंक पड़े। रातोंरात मानों आश्रम फूलों से सज धज कर मायापुरी बन गया था। यज्ञशाला के ऊपर रंग-विरंगे रेशमी ध्वज और पताकाएँ प्रभातकाल के वायु में लहरा रही थीं। महाध्वज जिसमें चाँदी के घुंघरू जुड़े थे गौरव के साथ महाकाश में खड़ा होकर रुनझुन शब्द से मानों अद्भुत मधुर वाणी का प्रसार कर रहा था। यज्ञशाला के मध्य में चार कोनों की चार वेदियों के ऊपर जरीदार रेशमी के चँदवे शोभा पा रहे थे। यह सब देख कर सभी लोग अपने-अपने हृदय में अनुभव करने लगे कि आज और कल के बीच महान्-अन्तर है।

एक घण्टे में ही आश्रम लोगों से ठसाठस भर गया। महात्मा गण आकर अपने-अपने निर्दिष्ट आसनों पर बैठ गये। उनके भाल पर चन्दन का तिलक और गले में फूलों की माला पहना दी गई। महात्माओं के सिवा और भी अनेक गण्यमान्य लोगों ने वहाँ पर आसन ग्रहण किया। उनका भी उसी तरह चन्दनतिलक और पुष्प माला द्वारा सत्कार किया गया। आश्रम के आँगन में तिल रखने को भी स्थान नहीं रहा। आश्रम के दूसरे और तीसरे खंडों के बरामदों में भी अगणित नरनारीगण खड़े थे। सभी उत्सुक नेत्रों से यज्ञशाला की ओर एक टक से देख रहे थे। बीच बीच में नर-नारियों की उलूध्वनि (मधुर आनन्द ध्वनि) और कुमारियों की पञ्च शङ्खध्वनि होने लगी तथा बैण्ड बाजा बजने लगा। इस पूर्णाहुति के अव-सर पर ब्रह्मचारी शैलेश ने एक गाना बनाया था। श्रीमती वेलून ने उसमें स्वर साधना कर अन्यान्य लड़कियों के साथ उसे गाया। उसे सुन कर सभी लोग प्रसन्न हुए थे।

उधर यज्ञशाला के भीतर सब देवतताओं की षोडशोपचार पूजा के लिए पूजा की सामग्री और फलों को परातों में सजा के लाकर ढेर लगा दिया गया था। ब्रह्मचारी लोग माँ की दी हुई आशीर्वादी रामनामी ओढ़ कर उन सब वस्तुओं को यथास्थान रखकर पूजारम्भ की व्यवस्था कर रहे थे। यज्ञ के आरम्भ से लेकर पूर्णाहुति के दिन तक जिन्होंने किसी न किसी समय इस यज्ञ में आहुति-प्रदान में भाग लिया था उन सब को बुलाकर माँ ने उस दिन एकत्र किया। पूर्णाहुति के कई दिन पहले माँ ने मुझसे कहा था "देख, किसी ने इस शरीर को पीतल की

एक बड़ी पिचकारी दी थी उस पिचकारी को ठीक करके रखना तो।" माँ ने क्यों यह बात कही यह मैं उस समय नहीं समझ सकी थी। फिर भी माँ के आदेशानुसार मैंने पिचकारी एक निर्दिष्ट स्थान पर रख दी थी। पूर्णाहुति के दिन यज्ञशाला में किस समय विभिन्न देवताओं की पूजा हो रही थी उस समय माँ ने वह पिचकारी तथा एक बाल्टी गंगाजल लाने को कहा। मैंने श्रीमती बूनी को पिचकारी लाने के लिए ऊपर भेजा, वह भी अत्यन्त अनिच्छा के साथ ऊपर गई, क्योंकि उसे भय था कि कहीं मेरे परोक्ष में पूर्णाहुति न हो जाय। अस्तु, पिचकारी और गङ्गाजल लाने पर भाई बटुक जी ने जब उन्हें देखा तो वे अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने मुँह से कुछ न कह कर उसी समय गङ्गाजल में दूध मिलाकर प्रस्तुत पूजा कर्म में मनोयोग दिया, देवताओं की पूजा समाप्त होने में प्रायः दस बज गये। उस समय ब्रह्मचारी गण यज्ञ कुण्ड के चारों ओर बैठ कर सावित्री मन्त्रों से आहुति देने लगे। उनके अतिरिक्त हम भी कई महिलाएँ जिन्होंने शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञोपवीत धारण किया है—जैसे उदास ब्रह्मचारिणी, निरुपमा (आचार्य सहधर्मिणी) एवं मैं—उनके साथ सम्मिलित थीं—हम लोगों ने भी यज्ञ में आहुतियाँ दी थीं। उसके बाद ही पूर्णाहुति का आयोजन होने लगा। घृत और चन्दन काष्ठ के संयोग से यज्ञाग्नि धड़ धड़ करके भड़क उठी। माँ के निर्देशानुसार ब्रह्मचारियों ने एक बनारसी साड़ी से यज्ञकुण्ड को चारों ओर से घेर रखा था। मानो इस प्रकार यज्ञकुण्ड स्थित गायत्री देवी को साड़ी पहनाई गई थी एवं साथ ही साथ पलक भर में अग्निदेव ने उसे अदृश्य कर डाला। उक्त साड़ी परलोकगत सोलन की रानी साहिबा ने माँ को बहुत दिन पहले दी थी। उसके पश्चात् एक नारियल को घी से भर कर, चाँदी के तबक से मढ़कर, लाल वस्त्र से आच्छादित कर तथा स्रुवा के बीच में बैठाकर वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वक उससे पूर्णाहुति दी गई। तदुपरान्त स्वर्ण की जिह्वा वाले स्रुक् से अग्नि में घृतधारा देना आरम्भ हुआ। लगभग १६ सेर घी से उक्त धारा दी गई थी। एक तो यों ही अग्निदेव कुण्ड में धड़-धड़ करके धधक रहे थे ऊपर से घृत धारा पाकर उन्होंने सैकड़ों ज्वालाओं में बड़े वेग के साथ ऊपर की ओर दौड़कर महाध्वज-दण्ड के मूल का स्पर्श कर लिया। वहाँ पर जो पुष्प-मालाएँ, चँदवे के सामान, लगी थीं वे तत्क्षण भस्म हो गईं। यज्ञशाला के ऊपर जो काठ का छाजन था उसमें भी अग्नि का सम्पर्क होने लगा। आचार्य जी ने तुरन्त पिचकारी मार कर वहाँ अग्नि नहीं लगने दी।

इस प्रकार दीर्घकालीन महायज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न हुई। पूर्णाहुति देकर आचार्य जी श्री माँ के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोले, "माँ, आज आपने पुत्र की लाज रख दी। पूर्णाहुति के समय कभी कभी अग्नि-कांड हो जाने की आशंका रहती है यह मुझे ज्ञात था। उसके प्रतीकार के लिए शास्त्रीय विधान के अनुसार गङ्गाजल में दूध मिला कर रख छोड़ना आवश्यक था, किन्तु विस्मृतिवश मैंने उसकी व्यवस्था पहले से नहीं की। यह व्यवस्था आपने ही की, एवं इसीलिए आज एक विषम संकट से हम लोगों का त्राण हुआ। यदि आप ऐसा न करतीं तो जो विपत्ति आती उसका वर्णन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कल प्रातःकाल जब दान की वस्तुएँ यज्ञशाला में लाई गई तब आपने ही बतला कर उन सब वस्तुओं को यज्ञशाला में उत्तर द्वार से पठवाया था। यही शास्त्र की विधि है, यह कहना व्यर्थ है। जब जो निर्देश आपके श्रीमुख में निकले मैंने उन सभी को शास्त्रानुसार पाया। विस्मृतिवश यज्ञ के सम्बन्ध में किसी साधारण अंश का मेरे द्वारा परित्याग होने की सम्भावना देख कर सदा जागरूक रहने वाली आपने उसे तुरन्त पूर्ण कर दिया। इसलिए मैं सोचता हूँ कि जो मैं इस यज्ञ के आचार्यपद का अधिकारी हुआ यह मेरा परम सौभाग्य है। आज तक मैंने कई यज्ञ कराये हैं किन्तु यह सब होते हुए भी कुछ भी नमक मिर्च मिलाये बिना मैं यह कह सकता हूँ कि इस तरह का दूसरा यज्ञ न भूतो न भविष्यति।" आचार्य का अपने आप निकला हुआ यह आत्म-निवेदन का उद्‌गार सुन कर माँ ने मुस्करा कर स्नेहभरी दृष्टि से उनपर अमृतवृष्टि की।

पूर्णाहुति के बाद श्री माँ के आदेशानुसार एक कुमारी को सोने और चाँदी के आभूषणों से विभूषित कर रेशमी वस्त्रों तथा पुष्प माला से सजा कर यज्ञशाला में लाया गया एवं वहाँ पर शय्या और बर्तन देकर उसकी षोडशोपचार से पूजा की गई। उनके पश्चात् गायत्री देवी को दाल, साग आदि उपकरणों के साथ सवा मन चावल का अन्न भोग लगाया गया एवं वह भोग चाँदी के थालों और कटोरों में सजा दिया गया। अपराह्न के बाद माँ ने अपने हाथ से विचार उसका किया था।

मैं एक ओर घटना का उल्लेख कर इस महायज्ञ के विवरण को समाप्त करना चाहती हूँ। पूर्णाहुति के समय जब अग्नि देव लपलपाते हुए ज्वालाओं का विस्तार कर ऊपर की ओर दौड़े थे तभी श्री माँ के

आदेश से उस ज्वाला से नई अग्नि लेकर रख ली गई एवं उसी दिन वह आश्रम स्थित हवन-मन्दिर में हवन-कुण्ड में विधिपूर्वक स्थापित की गई। सावित्री यज्ञ के २३ वर्ष पहले से ही जिस प्रकार अग्नि देव नित्य हवन द्वारा सत्कृत होते आ रहे थे उसी प्रकार इस यहायज्ञ की समाप्ति के बाद भी उनकी नित्य होम द्वारा सेवा की व्यवस्था हुई है। यह सब कुछ माँ के आदेशानुसार हुआ है। न जाने यह सब किस उद्देश्य से किया जा रहा है ?

महायज्ञ के बाद नगरकीर्तन की व्यवस्था है। इसलिए पूर्णाहुति के दूसरे दिन श्री माँ को लेकर भक्तजन नगर-कीर्तन के लिए निकले। माँ को एक बड़ी घोड़ा गाड़ी में बैठाया गया। माँ के साथ थे स्वामी शरणानन्द, स्वामी परमानन्द; भाई गोपालजी, नानी जी, भाई श्री बटुकजी एवं भाई श्री नेपालजी। साथ में और भी दो तीन गाड़ियाँ थीं। उनमें अन्यान्य साधु बैठे थे। हरिबाबा गाड़ी में न बैठ कर माँ के अन्यान्य भक्तों के साथ पैदल ही कीर्तन करते करते गये थे। हरिबाबा के भक्तों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया था। सब भक्तों की संख्या लगभग एक हजार से अधिक थी। पुरुषों के समान ही बङ्गाली, हिन्दुस्थानी, गुजराती आदि संभ्रान्त घरों की लड़कियाँ रास्ते में कीतंन करते करते गई थीं। कीर्तनकारियों की यह बड़ी भीड़ पहले दशाश्वमेध घाट पहुँची थी। फिर वहाँ से रामापुरा, कामाक्षा होकर लौट आई थी। लगभग तीन घण्टे तक सब लोग कीर्तन कर माँ को शहर घुमा लाये थे। माँ जिस समय आश्रम में लौटी, उस समय उनका मस्तक छोटी छोटी फूल की पँखुरियों से इस प्रकार ढका हुआ था कि देखने से मालूम पड़ता था कि मानो माँ रंगीन ओढ़नी ओढ़ कर बैठी हों। इस प्रकार सावित्री यज्ञ की समाप्ति हुई थी।

एक शारदीय अर्द्धरात्रि में भाव विह्वल नरनारियों के सामने जिन्होंने अग्निरूप में अपने को प्रकट किया था, जिन्होंने तेईस वर्षों से हम लोगों की दीनता और अक्षमता की उपेक्षा कर हम लोगों की सदोष और त्रुटि-पूर्ण सेवा स्वीकार कर अन्त में हमारे द्वारा ही इस यज्ञ की पूर्णाहुति कराई उन्हीं असीम शक्तिसम्पन्न, अनन्त महिमाशाली, सकल करुणा निधान यज्ञेश्वर को हम बार बार प्रणाम करते हैं एवं हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना करते हैं—"हे यज्ञेश्वर, हे देवेश, हे जगन्निवास, आप इस दानव-निपीड़ित वसुधा का उद्धार कीजिये। सारे विश्व में आज दम्भमान-मदान्वित महा असुर का ताण्डव नृत्य चल रहा है। हे कंसकेशि-निषूदन,
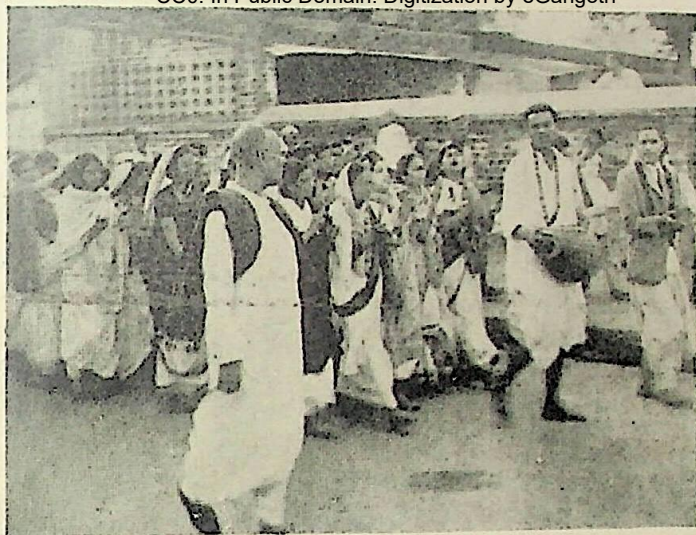
विराट जलूस में महिलाओं को कीर्तन

जलूस में कीर्तन का दुसरा चित्र

प्रत्येक युग में नवीन नवीन रूप धारण कर आप जो कर आये हैं, जो 'मैं सदा करूंगा' यह कह कर आपने असहाय जीव को आश्वासन दिया है, इस भीषण काल में अपनी उस वाणी को सफल कीजिये। जगत् के लिए ऐसा भीषण काल मालूम होता है पहले कभी नहीं आया था। असुरों के हूंकार से आज सब काँप रहे हैं। चरम सीमा में पहुँची हुई अर्थ-लिप्सा आज जगत् को निगल चुकी है। चारों ओर सुलग रही विद्वेषवह्नि जीव जीव के अन्तःकरण को जला कर महाप्रलय की सूचना दे रही है। मानव-समाज आज दैवी सम्पत्ति से परिभ्रष्ट है, वञ्चित है। दीनता के भीषण भार से सब लोग आज शुष्ककण्ठ और रुद्धश्वास होकर इधर उधर भटक रहे हैं। हे दीनवत्सल, इनके तृषित तापिता वक्षःस्थल में आपके सिवा और कौन शान्तिरूपी जल की वृष्टि करेगा ? इस जले हुए ऊपर खेत को आपके विना कौन शस्यश्यामल करेगा ? इसीलिए हम पुनः पुन प्रार्थना कर रहे हैं, आपका पाञ्चजन्य फिर बज उठे। उसके वज्र के से गंभीर निर्घोष से जगत् का जो अमङ्गल है, जो दुःख-दारिद्र्य है- वह दूर भाग जाय। हम सब समष्टि एवं व्यष्टि रूप से यही प्रार्थना करते हैं—

हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

•